मैनेजर पाण्डेय

प्रकाशक धरती प्रकाशन गगाशहर बीकानेर-३३४० १ / प्रथम सस्करण १९८१/मद्रक
विकास आर्ट प्रिंटर्स शाहदरा दिल्ली ३२ / आवरण स नू।

SHABDA AUR KARMA (A collection of critical Essays)
by Dr M Pandey

इस पुस्तक के सभी निबंध १९७३ से १९८० के बीच के हैं। ये निबंध आलोचना, पहल, कथ, उत्तरगाथा, युगपरिबोध, धरातल और कथन आदि पत्रिकाओं में समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। मैं इन पत्रिकाओं के संपादकों के प्रति विशेष आभारी हूँ क्योंकि वे ही इन निबंधों के लिखने के प्रेरक कारण रहे हैं।

जनवरी १९८१
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली ११००६७

मनेजर पाण्डेय

अनुक्रम

साहित्य और सर्वहारा

"दार्शनिकों ने संसार की भिन्न भिन्न ढंग से केवल व्याख्या की हैं, किंतु असली काम उसे बदलना है।"

संस्कृति और उसके विभिन्न रूपों की मूलगामी ऐतिहासिक मीमांसा का उद्देश्य केवल विचार के लिए विचार करना या आत्मतोष के लिए चिंतन करना नहीं है बल्कि समाज व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धों के बुनियादी बदलाव के लिए आवश्यक चेतना जगाना है, सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता का बोध जगाकर परिवर्तन की प्रेरणा देना है। संस्कृति सम्बन्धी चिंतन में केवल व्याख्या को चिंतन का उद्देश्य वे समझते हैं जो वर्तमान को शाश्वत् मानते हैं, लेकिन जो शोषणयुक्त समाज व्यवस्था को बदलकर शोषणमुक्त समाज-व्यवस्था कायम करने की कोशिश करते हैं, जो मानव समाज के बेहतर भविष्य की चिंता करते हैं, वे बुनियादी बदलाव की अनिवार्यता की पहचान को संभव बनाने के लिए व्याख्या और विश्लेषण का सहारा लेते हैं। साहित्य को जीवन और समाज की केवल व्याख्या कहना अगर उसके महत्त्व को घटाना है, तो उसे जीवन की केवल आलोचना कहना अपर्याप्त है। साहित्य सामाजिक जीवन की व्याख्या और आलोचना से आगे बढ़कर बुनियादी बदलाव का साधन बनकर ही मानव मुक्ति के संघर्ष की व्यापक प्रक्रिया का अंग बन सकता है। साहित्य को बुनियादी बदलाव का साधन समझना उसके महत्त्व को घटाना नहीं, वास्तव में उसके महत्त्व को बढ़ाना और उसे अधिक गंभीरता से लेना है।

साहित्य मनुष्य की सामाजिक चेतना और सामाजिक चिंता की देन है, इसलिए उसमें मानव जीवन की वास्तविकता और संभावना की अभिव्यक्ति होती है। वह यथार्थ और चेतना के सम्बन्ध बोध का माध्यम ही नहीं, सामाजिक चेतना के निर्माण और सामाजिक जीवन की रूपांतरणशीलता का साधन भी है। साहित्य की सामाजिकता और सामाजिक प्रयोजनशीलता को साहित्य की अभिजात्यवादी धारणा के समर्थक भी अब किसी न किसी रूप में स्वीकार करने लगे हैं लेकिन साहित्य की जनवादी धारणा के अंतर्गत साहित्य की सामाजिकता और प्रयोजनीयता का मूलगामी अर्थ उसे बुनियादी बदलाव का साधन मानने में निहित है।

साहित्य की किसी बुनियादी समस्या पर विचार करते समय साहित्य, समाज और इतिहास प्रक्रिया के सम्बन्धों पर ध्यान देना आवश्यक है। साहित्य के स्वरूप, उद्देश्य और विकास का सामाजिक विकास से गहरा सम्बन्ध है। साहित्य मानव-समाज के विकास का परिणाम है और प्रमाण भी। वह मनुष्य की सामाजिक चेतना की उपज है और सामाजिक चेतना को उपजाने वाला भी। साहित्य मे मनुष्य की ऐतिहासिकता और मानवीयता की अभिव्यक्ति होती है, उसमे कभी-कभी ऐतिहासिकता के विरुद्ध मानवीयता की पुष्टि, समर्थन और व्यंजना का प्रयत्न होता है। मनुष्य अपनी अस्तित्वात्मक आवश्यकताओ से ऊपर उठकर, अपनी मानवीयता के प्रति सहज होकर ही, अपने इन्द्रियबोध, भाव और चिंतन को साहित्य और कला मे व्यक्त करता है। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक-भौतिक अस्तित्व से निर्धारित होती है लेकिन मनुष्य की चेतना अपने परिवेश की सीमाओ और दबावो से मुक्ति के प्रयत्न मे बार-बार साहित्य और कला का सहारा लेती है। लेकिन यह भी सच है कि वास्तविक मुक्ति सामाजिक भौतिक परिवेश के बुनियादी बदलाव पर निर्भर है केवल चेतना की मुक्ति पर नही। साहित्य सारत समाज व्यवस्था के ऊपरी ढाचे का एक अग है और ऊपरी ढाचे का चरित्र आधार के चरित्र से कमोबेश प्रभावित होती है। शासक वर्ग अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए सस्कृति और साहित्य का एक साधन के रूप मे उपयोग करता है लेकिन साहित्य शोषक समाज व्यवस्था के विरुद्ध मुक्ति कामी वर्ग के वैचारिक सघर्ष का एक शक्तिशाली माध्यम और हथियार भी होता है। साहित्य की आन्तरिक द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया की एक विशेषता यह है कि एक ओर वह सामाजिक यथार्थ सामाजिक सम्बन्धो और समाज मे सक्रिय भौतिक वैचारिक शक्तियो की क्रियाशीलता का प्रतिबिम्बन करता है तो दूसरी ओर अपने प्रभावी रूप मे सामाजिक परिवर्तन की प्रेरक शक्ति और चेतना का निर्माता भी होता है। यह साहित्य की प्रतिबिम्बात्मक और सर्जनात्मक प्रवृत्तियो का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है।

समाज की विकास प्रक्रिया और उस विकास प्रक्रिया के अन्तर्गत सक्रिय भौतिक वैचारिक शक्तियो के स्वरूप समझने के लिए इतिहास की द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी विकास-प्रक्रिया की समझ आवश्यक है। किसी समाज के विकास के दौरान उस समाज व्यवस्था का चरित्र एक ओर उसके भौतिक सामाजिक आधार और उस आधार को समर्थन प्रदान करने वाली समानधर्मी विचारधारा मे व्यक्त होता है तो दूसरी ओर उस आधार और ऊपरी ढाचे के विरुद्ध सघर्षशील भौतिक वैचारिक शक्तियो के सम्बन्ध मे भी निर्धारित होता है। साहित्य का सम्बन्ध समाज और जीवन के यथार्थ से होता है और यथार्थ का चरित्र समाज-व्यवस्था

के चरित्र से वनता है, इसलिए यथाथ का स्वरूप समाज व्यवस्था के ऐतिहासिक स्वरूप से निर्धारित होता है। यही कारण है कि कला और साहित्य मे व्यक्त यथाथ का एक अनिवाय आयाम उसकी ऐतिहासिकता का होता है। इतिहास की विकास प्रक्रिया मे वग सघप केन्द्रीय और निर्णायक कारण होता है। इस वग-सघप की अभिव्यक्ति विभिन विचारधारात्मक रूपो म होती है, लेकिन जैसे समाज व्यवस्था के आधार और ऊपरी ढाचे का सम्ब ध सीधा, सरल और एक-पक्षीय नही होता, वैसे ही वग सघष और विचारधारात्मक रूपो का सवध भी सीधा, सरल और एकपक्षीय नही होता। एगेल्स ने लिखा है कि विचारधारा इतिहास प्रक्रिया की देन ही नही होती, वह इतिहास प्रक्रिया को प्रभावित भी करती है, दोना का सम्बध काय-कारण जैसा नही होता, उनमे परस्पर क्रिया प्रतिक्रिया भी होती है। साहित्य को सारत विचारधारात्मक रूपो के अतगत मानने का तात्पय है उसकी ऐतिहासिकता को स्वीकार करना और कला तथा साहित्य को विचारधारात्मक रूपा के अतगत न मानने का तात्पय है उसकी इतिहास सापेक्षता की उपेक्षा करके उसे इतिहास निरपेक्ष मानना। यह एक आश्चयजनक बात है कि कुछ माक्सवादी आलोचक माक्स की इस स्थापना को तो स्वीकार करते हैं कि कला और साहित्य का भौतिक सामाजिक आधार होता है, लेकिन वे माक्स के इस निष्कप को अस्वीकार करत हैं कि कला और साहित्य सारत विचारधारात्मक रूपो के अतगत आते हैं। वास्तव मे ऐसी मौलिकता का एक कारण तो यह है कि व विचारधारा को 'मिथ्या चेतना' ही समझते है, 'वग-चेतना' नही। दूसर, व कला और साहित्य के वगगत स्वभाव के बदले उनके वर्गातीत स्वभाव को अधिक महत्त्व देते हैं।

2

वग सघप को इतिहास प्रक्रिया का केन्द्रीय कारण समझने, कला और साहित्य के वगगत स्वरूप को स्वीकारने और साहित्य को बुनियादी बदलाव तथा मानव मुक्ति का साधन मानने के बाद ही साहित्य और सवहारा के सवध पर विचार करने की सभावना बनती है। सवहारा वग पूजीवादी समाज व्यवस्था की उपज है। पूजीवादी व्यवस्था मे बुर्जुआ वग और सवहारा वग का सघप इतिहास प्रक्रिया की अनिवायता है। इस अनिवायता को पहचानते हुए सिद्धात और व्यवहार की एकता कायम रखकर क्रियाशील होन से ही बुनियादी बदलाव सभव होता है। जो शोपणमुक्त समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध हैं वे सवहारा के पक्षधर इसलिए हैं कि पूजीवादी समाज व्यवस्था मे सर्वाधिक शोपित और सब कुछ हारा हुआ सवहारा वग ही सवाधिक क्राति-

कारी वग भी है, वह वग चतन है यह मानव मुक्ति के अपने ऐतिहासिक दायित्व के प्रति सजग है, इतिहास प्रक्रिया म उसका ही भविष्य है, उसके भविष्य के हाथा म मानव समाज का भविष्य सुरक्षित है और उसके भविष्य के साथ ही कला और साहित्य का भविष्य भी जुडा हुआ है। सवहारा वग म बुनियादी बद लाव के लिए सघप के नेतृत्व की क्षमता को समझना तथा उसे मजबूत बनाना ही बुनियादी बदलाव के लिए प्रतिबद्ध साहित्यकारा-कलाकारा का काम है।

बुनियादी बदलाव के लिए वस्तुगत परिस्थितियो के साथ साथ आत्मगत तैयारी की भी जरूरत होती है। जो लोग केवल वस्तुगत परिस्थितियो के अभाव का रोना रोते हैं और आत्मगत तैयारी की जाने अनजान उपेक्षा करते हैं, वे या तो भ्रम मे जीते है या बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया को नही समझते या फिर भारी धोखेबाज हैं। केवल वस्तुगत परिस्थितिया पर बुनियादी बदलाव की सारी जिम्मेदारी डालकर किसी शुभ दिन का इतजार करने वाले यह भूल जाते हैं कि मार्क्स ने कहा है कि मनुष्य इतिहास की उपज है, लेकिन मनुष्य अपना इति हास स्वय बनाता है। मानव और मानव समाज का इतिहास वस्तुगत परिस्थिति और चेतना के द्वद्वात्मक विकासशील सबध का इतिहास है। बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया मे साहित्य की भूमिका यह है कि साहित्य समाज की वस्तुगत परि स्थितियों, सामाजिक सबधो, जीवन के यथाथ और चेतना के स्वरूप का प्रामाणिक यथार्थवादी चित्रण करके, समाज व्यवस्था और उसके अतगत मनुष्य की जीवन दशा का वास्तविक रूप सामने लाकर, जनता को जीवन की वास्त विकता का बोध कराता है और दूसरी ओर क्रातिकारी वग और उसकी सहायक शक्तियो को पहचानते हुए क्रातिकारी चेतना को मजबूत करने तथा सघप को दिशा और दृष्टि देने का काम करता है।

बुनियादी बदलाव के प्रयत्न का केन्द्र तो राजनीतिक आर्थिक सघप ही होता है, लेकिन शोषक सत्ता के सास्कृतिक वचारिक प्रभुत्व का तोडने के लिए सास्कृतिक वैचारिक सघप की आवश्यकता होती है। साहित्य इस सास्कृतिक वैचारिक सघप का साधन बनकर ही बुनियादी बदलाव की मदद करता है। सवहारा वग के सघप के उद्देश्य से अपनी रचनाशीलता को जोडकर रचना करने वाले साहित्यकार ही बुनियादी बदलाव के सहायक होते हैं। दुनियाभर के कला और साहित्य के इतिहास से यह सिद्ध होता है कि हर युग के महान रचनाकार अपनी रचना म पतनशील वग की निमम आलोचना करते हैं और प्रगतिशील वग स सहानुभूति व्यक्त करते हैं। यह वास्तव मे अपन युग के सामाजिक जीवन के यथाथ की सही समझ और उसकी ईमानदार प्रामाणिक अभिव्यजना के कारण सभव होता है। दूसरे शब्दो म, हर युग का महान साहित्य वह होता है जिसम अपन युग के सामाजिक मानवीय यथाथ के ऐतिहासिक स्वरूप की प्रामाणिक

व्यजना होती है, जिसमे समाज म सघपशील शक्तियो म से प्रगतिशील शक्तियो की पहचान होती है और जिसम उस युग की समाज व्यवस्था के अमानवीय चरित्र के विरुद्ध सघप करने वाली जनता की आशा निराशा, विजय पराजय, वास्तविकता और आकाक्षा के द्वन्द्व के रूप मे उसकी मानवीयता प्रकट होती है।

पूजीवादी युग म बुर्जुआ और सवहारा वग का सघप और सवहारा की विजय यात्रा मानव इतिहास की प्रक्रिया की अनिवायता है। जो साहित्यकार सवहारा की विजय मे मानव समाज का भविष्य देखते हैं, वे सवहारा की विचार-धारा, उद्देश्य और सघप से अपनी रचनाशीलता को जोडते हैं। आज के जमाने म यह कहना पर्याप्त नही है कि रचनाकार की विचारधारा चाहे जो हो, अगर उसे यथाथ की सही पहचान है और वह अपनी कला मे कुशल है, तो वह महत्त्व पूण रचनाकार हो सकता है। एक तो सही विश्व दृष्टि के अभाव मे यथाथ की सही पहचान कठिन है और दूसरे, इतिहास प्रक्रिया और उसमे सवहारा की क्रातिकारी भूमिका की समझ भी असभव है। पूजीवाद के इस दौर मे रचनाकार का केवल यथाथवादी होना ही पर्याप्त नही हैं, उसका जनवादी होना भी जरूरी है। लेकिन सवहारा की विचारधारा, सघप और उद्देश्य के साथ तादात्म्य की बात करना सरल है, उसे जीवन-व्यवहार मे उतारना कठिन है। पूजीवादी समाज-व्यवस्था अपने अस्तित्व की सुरक्षा के लिए जानबूझ कर सवहारा वग के सास्कृतिक उत्थान को दबाती है और उसके साहित्य और कला का दमन करती है। पूजीवादी व्यवस्था के क्रूर शोषक और अमानवीय चरित्र के कारण श्रमिक अपने श्रम, परिवार, समाज और अतत अपने मानवीय स्वभाव से अलगाव की जिंदगी जीता हुआ विवशता, निरथकता, अकेलापन, आत्म परायापन का शिकार होता है। ऐसी स्थिति म जबकि वह अपनी जिंदगी की अस्तित्वात्मक समस्याओ से ही जूझता रहता है, उसे अपने सास्कृतिक विकास और रचनात्मक क्षमता के उपयोग का अवकाश और अवसर कहा मिल पाता है? यही कारण है कि आवश्यकता और सभावना के बावजूद सवहारा वग से ऐसे रचनाकार उभर कर सामने नही आ पाते जो अपने वग की विचारधारा, चेतना, उद्देश्य और सघप की कलात्मक अभिव्यक्ति कर सकें। दूसरे वर्गों से आये हुए रचनाकार अपने वगगत सस्कारो, विचारो और प्रवत्तियो से प्राय मुक्त नही हो पाते। भारत जैसे देश मे, जहा पूजीवाद के साथ साथ सामती समाज के अवशेष बचे हुए हैं, रचनाकार का भावात्मक-वैचारिक आत्मसघप अधिक जटिल और कठिन हो जाता है। मध्यवग या पेटी बुर्जुआ वग से आये हुए रचनाकारो को अपनी 'मिथ्या चेतना से मुक्त होकर सवहारा की वग-चेतना को अपनाने के लिए कठोर आत्म-सघप से गुजरना होगा। सवहारा के

पक्षधर लेखकों के लिए सघर्ष का कोई विकल्प नही हो सकता, सुविधावादियों के लिए वहा कोई जगह नही है। सर्वहारा के पक्षधर रचनाकारो को अपने अतीत की मानसिकता से मुक्ति और कलात्मकता के मोह से बचने के लिए अपना ही दुश्मन बनना पडता है, आत्मालोचन और आत्म सघर्ष से गुजरना पडता है। मध्यवर्ग से आये हुए रचनाकार जब सर्वहारा की वर्गचेतना को ठीक से अपना नही पाते हैं तो उनकी आकाक्षा और उपलब्धि के बीच अतराल आ जाता है और प्रतत रचना और पाठक या साहित्यकार और जनता के बीच की खाई बनी रहती है। यह सच है कि लोकप्रिय सर्वहारा साहित्य सर्वहारा वर्ग के वर्गचेतन रचनाकारो की रचनाशीलता से ही सभव होता है, लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि बुनियादी बदलाव की अनिवार्यता को पहचानने वाले और सर्वहारा वर्ग के उद्देश्यो से गहरी सहानुभूति रखने वाले दूसरे वर्गों के रचनाकार भी सहयोगी शक्ति के रूप मे काम करते हैं या कर सकते हैं। काड्वेल के अनुसार सर्वहारा वर्ग के साथ बुर्जुआ वर्ग के रचनाकारो के सम्बध के तीन रूप हो सकते हैं, एक—विरोध, दो—सहयोग, और तीन—आत्मसात्करण। सर्वहारा का विरोध करने वाले प्रतिक्रियावादी होते हैं, क्योकि वे इतिहास प्रक्रिया में नये के बदले पुराने का समर्थन करते हैं। सर्वहारा वर्ग से सहयोग करने वाले कुछ लेखक सर्वहारा से महज बौद्धिक सहानुभूति रखते हैं, इसलिए ऐसे लोग सर्वहारा को एक अत्यत पीडित वर्ग के रूप मे देखते है, उसे क्रातिकारी वर्ग के रूप मे नही देखते। जो लेखक अपने वर्गीय विचारो और उद्देश्यो से मुक्त होकर समाज और जीवन के प्रति सर्वहारा के दृष्टिकोण को आत्मसात करते हैं वे सर्वहारा के विश्वसनीय रचनाकार बन पाते हैं। लेकिन ऐसे रचनाकार जब अपनी रचना मे अतर्वस्तु और रूप के अर्तविरोध के शिकार होकर 'जनवादी अतर्वस्तु और बुर्जुआ कला रूप की एकता स्थापित करने की कोशिश करते हैं तो वे सर्वहारा से दूर पड जाते हैं और इस तरह रचना मे 'अभिप्राय और प्रभाव की एकता' खडित होती है। साहित्य और कला के क्षेत्र मे प्रगतिशीलता, जनवादिता और क्रातिकारिता में अन्तर वास्तव में साहित्य और सर्वहारा के सम्बध के रूप पर निर्भर है। सच्चे सर्वहारा साहित्य और कला की सभावना समाजवादी समाज मे ही हो सकती है, क्योकि वहा समाज व्यवस्था और सर्वहारा की चेतना मे सघर्ष नही एकता होती है। पूजीवादी समाज मे सर्वहारा साहित्य मे बुर्जुआ व्यवस्था के विरुद्ध सर्वहारा वर्ग के सघर्ष की व्यजना होती है, इसलिए पूजीवादी समाज मे सर्वहारा साहित्य प्राय विरोध का साहित्य बन जाता है। लेकिन सच्चा सर्वहारा साहित्य केवल विरोध का साहित्य या आदोलनकारी साहित्य नही होता, क्योकि उसमे सामाजिक सम्बधो की जटिल समग्रता की व्यजना होती है, पूजीवादी सामाजिक सम्बधो में खोयी हुई मानवीयता की खोज होती है और उसमे

बुर्जुआ साहित्य तथा कला मे बेहतर साहित्य और कला के निर्माण का प्रयत्न भी होता है। यह याद रखना होगा कि केवल माक्सवादी शब्दावली और मुहावरो के उपयोग से कोई रचना जनवादी नही बन जाती, उसका वास्तविक महत्त्व उसमे चित्रित सामाजिक यथाथ और सामाजिक सम्ब धा की समग्रता की प्रामाणिकता पर निभर होता है। शब्द कम से बचाव का नही, लगाव का साधन है। भापा, कम और चिंतन के बीच मध्यस्थता करके ही सायक होती है।

किसी रचनाकार की चिंता का मुख्य विषय जीवन का य ाथ है और जीवन का यह यथार्थ बहुआयामी होता। रचनाकार सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्ब धा की समग्रता का चित्रण करते समय मानव सम्ब ध के वैयक्तिक, सामाजिक और मानवीय पक्षा का उदघाटन करता है, वह मनुष्य की वैयक्तिक सामाजिक और मानवीय सवेदनशीलता की व्यजना करता है। रचना मे जीवन जगत के यथाथ के प्रति रचनाकार की सवेदनशीलता, जिसमे इद्रिय-बोध, भावबोध और चिंतन का योग होता है, व्यक्त होती है। यह सवेदनशीलता रचना प्रक्रिया के दौरान विशेष से सामा य मे बदलती है और पुन रचना मे विशेष के माध्यम से उसका सामा यीकरण होता है। रचनाकार विशेष व्यक्तियो, घटनाओ और वस्तुस्थितियो के माध्यम से जो जीवनानुभव प्राप्त करता है, उसका वह सामा यीकरण करता है, फिर अभिव्यक्ति के दौरान वह विशेष व्यक्तिया, घटनाओ और वस्तुस्थितियो के माध्यम से व्यक्त करता है। यहा यह कहना आवश्यक है कि रचना मे अभिव्यजित व्यक्तियो, घटनाओ और वस्तुस्थितियो मे विशिष्टता और सामा यता या वैयक्तिकता और प्रतिनिधिकता का सश्लेप होता है। रचना के रूप मे पाठक जब लेखक के जीवनानुभव का पुन अनुभव करता है तो उस अनुभव का एक बार फिर सामा यीकरण या साधारणीकरण होता है। रचनाकार रचना प्रक्रिया मे व्यक्ति की वैयक्तिकता के साथ साथ उसकी सामाजिकता की भी व्यजना करता है, लेकिन वैयक्तिक सवेदना के निजीपन और सामाजिक सवेदना की समकालीनता तथा ऐतिहासिकता तक ही वह सीमित नहीं रहता। वह मानव सवेदना के मानवीय पक्ष का भी उद्घाटन करता है जिसके कारण रचना ऐतिहासिकता की सीमा के परे भी प्रभावकारी सिद्ध होती है। साहित्य मे मनुष्य की ऐतिहासिकता और मानवीयता का द्वद्व वास्तव मे उसके अस्तित्व और सत्व का द्वद्व है। मनुष्य अपन अस्तित्व की सीमाओ से मुक्त होकर अपनी मानवीयता की रक्षा, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण की कोशिश करता है। माक्स न जिसे 'समग्र मनुष्य का बोध और मानवीय यथाथ का आविर्भाव' कहा है वही साहित्य मे मनुष्य की वैयक्तिकता और सामाजिक ऐतिहासिकता के अतिरिक्त उसकी मानवीयता की अभिव्यजना मे प्रकट होता है। पूजीवादी समाज व्यवस्था मे मनुष्य की यह मानवीयता नष्ट हो जाती है।,

यहाँ लगभग सबकुछ अमानवीकरण की प्रक्रिया का शिकार हो जाता है। पूँजीवादी समाज-व्यवस्था और उसके साथ साथ व्यक्तिगत सम्पत्ति के अत के बाद ही मनुष्य की मनुष्यता पुन प्रतिष्ठित होती है। साहित्य पूँजीवादी व्यवस्था मे अमानवीकरण की प्रक्रिया के विरुद्ध सघष का साधन भी होता है। यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि किसी समाज की वास्तविकता और उनमे मौजूद मानव सम्ब धो के चित्रण म मानव सम्ब धो की वैयक्तिकता, सामाजिकता और मानवीयता के अभाव का चित्रण उतना ही महत्त्वपूण है जितना आविर्भाव का, बशर्ते कि उस चित्रण मे सच्चाई, व्यापकता, गहराई और ईमानदारी हो। 'जो है' उसके आधार पर 'जो कुछ' हो सकता है उसकी सभावना व्यक्त करना एक सृजनशील रचनाकार का काम है लेकिन 'जो कुछ' नही है उसके आधार पर 'सब कुछ' की कल्पना कर लेना किसी कल्पनाविलासी स्वप्नजीवी का काम हो सकता है।

साहित्य मे सामाजिक यथाथ और सामाजिक सम्ब धो की समग्रता, जनता के समाजिक सघष और इतिहास प्रक्रिया की दिशा का चित्रण करके रचनाकार जनता का यथाथ बोध विकसित करता है जिससे जनता की चेतना तीव्र और जागरित होती है। चेतना के जागरण का अथ है अपनी सामाजिकता और मानवीयता का बोध और जाग्रत सामाजिक चेतना ही अग्रगामी परिवतन-कारी चेतना बनती है। लेकिन इसके लिए यह आवश्यक है कि रचनाकार की विश्व दृष्टि और पाठक की विश्वदृष्टि मे साझेदारी की सभावना हो क्योकि विश्व दृष्टि से ही यथाथ बोध अनुशासित होता है। जहा रचनाकार और पाठक की विश्व दृष्टि मे सामजस्यपूण सम्ब ध का अभाव होगा, वहा रचना मे व्यक्त यथाथ का पाठकीय बोध मुश्किल हो जायेगा। रचनाकार और पाठक की विश्व दृष्टि मे एकता के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि रचनाकार की कला त्मक चेतना और सामाजिक चेतना मे एकता हो। सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक आयाम का बोध ही वग चेतना का बोध है। रचनाकार की रचनाशीलता सामाजिक चेतना के ऐतिहासिक आयाम के बोध तक ही समाप्त नही होती, बल्कि वह इतिहास की प्रक्रिया और दिशा का बोध प्राप्त कर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रगतिशील वग की उस चेतना के स्वरूप की पहचान भी करती है जिसे जाज लूकाच ने 'सभावित चेतना' कहा है। यह 'सभावित चेतना उस वग की चेतना होती है जिसका वग सघष मे भविष्य होता है। निश्चय ही पूँजीवादी समाज व्यवस्था मे चलने वाले वग सघष मे ऐसी 'सभावित चेतना सवहारा वग की चेतना होती है क्योकि उसी का भविष्य होता है। पूँजीवादी समाज मे वही रचना महान होगी जिसमे इस 'सभावित चेतना की पहचान हो। सच्चा सवहारा साहित्य व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना की

सकुचित सीमा से मुक्त कर उसकी सामाजिक चेतना को जगाता है और मानवीय चेतना को अधिक व्यापक और गहरा बनाता है।

पूजीवादी समाज मे सवहारा वग की स्थिति और उसके वग सघप के उद्देश्य के स दम मे साहित्य की सहायक और उपयोगी भूमिका पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि सवहारा के पक्षधर साहित्य का उद्देश्य है, (1) पतनशील बुजुआ जीवन पद्धति और मरणो मुख बुर्जुआ सस्कृति की वास्तविकता की छानबीन करना और उसकी कमजोरियो का चित्रण करना, (2) समाज के सपूण जीवन के साथ बुर्जुआ जीवन पद्धति की असगति और समाज के विकास मे बुजुआ समाज व्यवस्था और जीवन पद्धति के बाधक स्वरूप का उद्घाटन करना, (3) बुर्जुआ वग के सास्कतिक और राजनीतिक प्रभुत्व के टूटने की प्रक्रिया और तोडने के तरीको का वणन करना, (4) सामाजिक सम्ब धो की समग्रता के बीच सवहारा के जीवन सघप का चित्रण करना, (5) सवहारा दृष्टिकोण के अनुरूप एक अधिक मानवीय ससार की रचना की कोशिश करना, (6) सामाजिक जीवन के यथाथ का चित्रण करते समय वग सघप की प्रक्रिया और रूप को समझना तथा वग सघप के प्रत्येक रूप के राजनीतिक प्रयोजन को पहचानना, क्योकि "प्रत्येक वग सघप राजनीतिक सघप होता है" (7) सवहारा के सामाजिक सघप का चित्रण करते हुए सवहारा वग की एकता को मजबूत करन और उसे आगे बढाने की कोशिश करना (8) सवहारा को 'मिथ्या चेतना से मुक्त करने और उसकी वग चेतना और मानवीय चेतना को विकसित करन का प्रयत्न करना और (9) सवहारा को इतिहास प्रक्रिया की दिशा और गति का बोध कराते हुए उसके ऐतिहासिक दायित्व का बोध जगाना।

सवहारा साहित्य के स्वरूप पर विचार करते समय साहित्य की लोकप्रियता और कलात्मक श्रेष्ठता का आपसी सम्ब ध भी विचारणीय है। प्राय लोकप्रियता और कलात्मक श्रेष्ठता को परस्पर विरोधी प्रवत्तियो के रूप मे उप स्थित किया जाता है। लोकप्रियता को समकालीनता से जोडा जाता है और कलात्मक श्रेष्ठता को कालातीतता से। कभी कलात्मक श्रेष्ठता को लोकप्रियता का आधार माना जाता था, लेकिन अब पूजीवादी व्यवस्था की व्यक्तिवादिता के कारण कलात्मक श्रेष्ठता और लोकप्रियता का पाथक्य स्थापित हो गया है। कुछ व्यक्तिवादी रचनाकार आत्माभिव्यक्ति को ही पर्याप्त समझते हैं, वे सम्प्रेषण को अनावश्यक मानते हैं। कुछ अ य लेखको के अनुसार अभिव्यक्ति के लिए अब कुछ भी शेप नही है। कुछ ऐसे भी रचनाकार हैं जो सम्प्रेषण को असभव मानते हैं। जाहिर है रचना सम्ब धी ऐस दृष्टिकोण के वातावरण म लोकप्रियता के लिए कोई जगह नही हो सकती। लोकप्रियता

का प्रश्न वही पैदा होता है जहा सम्प्रेषण की आवश्यकता और सभावना मे आस्था हो। कोई भी जनवादी रचनाकार सम्प्रेषण की आवश्यकता और लोक प्रियता की कामना से मुह नही मोड सकता। कलात्मक श्रेष्ठता और लोक प्रियता के बीच की दूरी किसी जनवादी रचनाकार की मजबूरी हो सकती है, उसकी उपलब्धि कदापि नही। लेकिन पूजीवादी समाज मे लोकप्रियता न तो कलात्मक श्रेष्ठता पर निर्भर होती है और न वह कला की सहज विशेषता रह जाती है। यहा लोकप्रियता पूजीवादी व्यवस्था के नियमो का शिकार होती है। पूजीवादी व्यवस्था मे हर चीज का व्यापारीकरण होता है, हर चीज खरीद बिक्री की वस्तु बन जाती है। व्यापारीकरण की इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप सस्ता बाजारू साहित्य लोकप्रिय हो जाता है और कलात्मक श्रेष्ठता की उपेक्षा होती है। पूजीवादी समाज व्यवस्था म अगर सस्ता बाजारू साहित्य लोक प्रिय हो जाता है तो उसके अनेक कारण है। पहला कारण तो विज्ञापन की कला और कला का विज्ञापन ही है, जो व्यापारीकरण की प्रक्रिया का अग है। दूसरा कारण यह है कि पूजीवादी व्यवस्था लोकप्रियता को अपनी चालाकी और चालबाजी से घटाने-बढाने की साजिश करती है। जनवादी रचनाओ के दमन और बुर्जुआ व्यवस्था के हितो की सुरक्षा करने वाली रचनाओ को लोकप्रिय बनाने के लिए तरह तरह के साधनो का उपयोग होता है। बाजारू साहित्य की लोकप्रियता का तीसरा कारण यह है कि मानव व्यक्तित्व के भावात्मक और वैचारिक अश से गहरे स्तर तक जुडा हुआ साहित्य उतना लोकप्रिय नही होता जितना सनसनीखेज वासना उत्तेजक साहित्य। प्रेमच द के शब्दो मे कह तो सुलाने वाला साहित्य' 'जगाने वाले साहित्य से अधिक लोकप्रिय हो जाता है क्योकि वह बाजार की प्रकृति के अनुकूल होता है। बुर्जुआ व्यवस्था की विचारधारा के शिकार लोग चेतना को झकझोरने वाले बेचैन करने वाले साहित्य के बदले मनोरजक साहित्य को अधिक पसद करते हैं। जनवादी साहित्य की अलोकप्रियता का कारण केवल उसके खिलाफ षडयत्र ही नही है जनता की अशिक्षा और कला चेतना का पिछडापन भी है, जो पूजीवादी व्यवस्था का ही फल है। श्रेष्ठ कलात्मक जनवादी साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए यह आवश्यक है कि पूजीवादी समाज व्यवस्था का अत हो और समाजवादी समाज की स्थापना हो, जिसमे जनवादी सस्कृति और कला के विकास और लोकप्रियता की सम्भावना उत्पन्न हो। लेनिन न तोलसतोय की महान रचनाओ की रूसी जनता मे अलोकप्रियता पर विचार करते हुए कहा था कि तॉलसतॉय की रचनाओ को लोकप्रिय बनाने के लिए सघर्ष करने और पूजीवादी समाज व्यवस्था की जगह समाजवादी समाज की स्थापना की जरूरत है। यह एक विचित्र बात है कि हिन्दी म कुछ मार्क्सवादी आलोचक मुक्तिबोध जस रचना-

कार की रचनाओ को लोकप्रिय बनाने के लिए बुर्जुआ व्यवस्था के खिलाफ सघष करने के बदले मुक्तिबोध की लोकप्रियता के खिलाफ सघष करना अपना कत्तव्य समझते हैं। विचार करने की बात यह भी है कि 'जनता मे लोकप्रिय साहित्य' की माग करते समय 'जनता' और 'लोकप्रिय' का तात्पय क्या है? क्या 'जनता' से हमारा तात्पय शोषित किन्तु वगचेतनाहीन अशिक्षित जनता से है और 'लोकप्रिय' का तात्पय सरल, सुबोध और सपाट साहित्य से? जी, नहीं। 'जनता' से हमारा तात्पय वग चेतन सघषशील जनता से है और 'लोकप्रिय' वह है जिसमे बोधगम्यता और कलात्मक की एकता हो। ब्रेख्त ने जनता मे लोकप्रिय साहित्य के स्वरूप पर विचार करते हुए लिखा है कि जनता से हमारा तात्पय ऐसी जनता से है जो इतिहास प्रक्रिया मे निर्णायक भूमिका निभा रही हो, जो इतिहास का निर्माण कर रही हो और दुनिया को बदलने के साथ साथ अपने को भी बदल रही हो। ब्रेख्त ने जुझारू जनता के सन्दभ मे लोकप्रियता की जुझारू धारणा पर विचार करते हुए लिखा है—"लोकप्रिय वह साहित्य या कला है जो व्यापक जनता के लिए बोधगम्य हो, जिसमे जनता के अभिव्यजना रूपो को अपनाया और समद्ध बनाया गया हो, जिसमे जनता के दष्टिकोण के स्वीकार, समथन और सुधार का प्रयत्न हो, जिसमे जनता के सर्वाधिक प्रगतिशील वग का ऐसा चित्रण हो जिससे उसकी नेतत्व की क्षमता प्रकट हो और इस प्रकार वह (रचना) दूसर वर्गों के लिए भी बोधगम्य हो सके, जिसमे परम्परा से सम्बद्धता हो और विकास का प्रयत्न भी, और जिसमे नेतृत्व करने वाले वग की उपलब्धियो की, नेतृत्व के लिए सघष करने वाले वग को जानकारी दी गई हो।"

लेनिन के अनुसार लोकप्रिय लेखन वह है जिसमे विचारो की गहराई हो, जो पाठक की चिंतन शक्ति को गति दे और जो पाठक के मन मे नये प्रश्न पैदा करने मे सक्षम हो। साराश यह कि लोकप्रिय लेखक अपने पाठको को बेवकूफ नहीं समझता। ब्रेख्त और लेनिन के विचारो के प्रकाश मे यह कहा जा सकता है कि लोकप्रियता कलाहीन नही होती। लोकप्रिय यथाथवादी जनवादी रचना मे क्रातिकारी अन्तवस्तु और लोकप्रिय रूप की एकता होती है, उसमे अभिप्राय और प्रभाव की एकता होती है। कलात्मक श्रेष्ठता, ग्राम्शी के शब्दो मे, केवल 'अन्तवस्तु के सौन्दय या 'रूप के सौन्दय' म नही होती, वह वस्तु और रूप की सामजस्यपूण एकता मे प्रकट होती है।

सवहारा साहित्य के सन्दभ म कलात्मक श्रेष्ठता और लोकप्रियता के सम्बन्ध पर विचार करते समय या दोनो की एकता का व्यवहार करते समय दो अतिवादी दष्टिकोणो से बचाव आवश्यक है। लोकप्रियता की उपेक्षा करके कलात्मक श्रेष्ठता को अधिक महत्त्व देने से कलावादी आग्रहो और सौन्दयवादी

रचना में निखार होने का खतरा है, जिससे रचना दुर्बोध होने के कारण जनता से अलग थलग पड़ जाती है। इससे जनवादी रचना के प्रयोजन की पराजय की संभावना उत्पन्न होती है। दूसरी ओर कलात्मकता की उपेक्षा करके केवल लोकप्रियता का महत्त्व देने से कलात्मकता का ह्रास होता है और जनता की कला चेतना का विकास नहीं हो सकता। जुड़ाव के नाम पर एक सस्ते सरल और सपाट साहित्य की बाढ़ आती है जिसमें सामाजिक यथार्थ और सामाजिक सम्बन्धों की जटिलता का चित्रण संभव नहीं होता, इसलिए ऐसे साहित्य का प्रभाव भी क्षणिक होता है। इस संदर्भ में यह स्मरणीय है कि मानव सभ्यता के विकास के इतिहास में सर्वहारा साहित्य और कला को बुर्जुआ साहित्य और कला की तुलना में विकास की उन्नततर अवस्था का प्रमाण देना है, अधिक समृद्ध कला, कला संवेदना और सौन्दर्यबोध का विकास करना है।

सर्वहारा और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार करते समय एक यह सवाल सामने आता है कि क्या 'सवहारा कला' या 'सवहारा साहित्य' जैसी कोई धारणा मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र के अन्तर्गत बनायी जा सकती है? इस सवाल का दूसरा रूप यह है कि 'जनवादी कला' या 'जनवादी साहित्य' की धारणा और 'सवहारा कला या साहित्य' में क्या सम्बन्ध है? हिंदी में 'जनता का साहित्य', 'आम आदमी का साहित्य' और दलित साहित्य को बहस का विषय बनाया गया है, लेकिन 'सवहारा सवहारा कला या साहित्य' की धारणा पर पर्याप्त विचार नहीं हुआ है।

मानव समाज के इतिहास से यह सिद्ध सत्य सामने आता है कि वर्गों में विभाजित समाज व्यवस्था मे एक वग शोषकों का और दूसरा शोषितो का होता है। शासक वग ही शोषक वग है और शोषित वग 'जनता' है। इस प्रकार 'जनता' की धारणा में हर युग की शोषित जनता आ जाती है। सामंती समाज में शोषित जनता के अन्तर्गत किसान और दूसरे शोषित वग आते हैं। पूंजीवादी समाज व्यवस्था मे शोषित जनता के अन्तगत सवहारा और दूसरे शोषित वग सम्मिलित होते हैं। सामंती समाज में किसान और दूसरे शोषित वर्गों मे अंतर शोषण की मात्रा में अंतर के कारण नहीं शोषण के रूप मे अंतर के कारण होता है। पूंजीवादी समाज में सवहारा सर्वाधिक शोषित और सब कुछ हारा हुआ वग होता है। जैसे सामंती समाज के क्रूर शोषण और दमन के खिलाफ जनता के संघर्ष का प्रतिनिधित्व किसान वग करता है वैसे ही पूंजीवादी समाज मे शोषण और दमन के खिलाफ जनता के संघर्ष का नेतृत्व सवहारा वग करता है। जनता के संघर्ष का नेतृत्व करने वाला वग अपने मित्र वर्गों से पृथक नहीं होता। पूंजीवादी समाज व्यवस्था से सवहारा वग की मुक्ति वास्तव में सम्पूर्ण समाज की मुक्ति है, इसलिए सवहारा की मुक्ति संघर्ष सारे समाज की मुक्ति

सघर्ष होता है। यह मुक्ति सघष सवहारा के नेतृत्व और उसकी वग चेतना की व्यापक जनता मे स्वीकृति से सफल होता है, इसलिए सवहारा के उद्देश्य से शेष शोषित वर्गों का उद्देश्य भि न नही होता। पूजीवादी समाज मे सवहारा एक मूत्त ऐतिहासिक धारणा है जबकि 'जनता' की धारणा मे व्यापकता के बावजूद आमूत्तता की सभावना रहती ह। हिंदी साहित्य मे हाल के कुछ वर्षो म आम आदमी या 'आम जनता' की जो चर्चा हुई है उसमे जनता की धारणा म निहित अमूर्त्तता का लाभ उठाकर ही प्रगति विरोधी लोगो ने 'आम आदमी' या 'आम जनता' को अमूत्त, अपरिभाषित और अज्ञेय तक कहा है। सवहारा की धारणा मे इस प्रकार के भ्रम फैलाने की कोई सम्भावना नही है। दूसरी बात यह है कि चूकि सवहारा वग ही पूजीवाद के विरुद्ध सघष का नेतृत्व करने वाला वग है, वह अपने ऐतिहाहिक दायित्व के प्रति सजग होता है और वही क्रातिकारी वग है, इसलिए सवहारा कला और सवहारा साहित्य या सवहारा सस्कृति की धारणा वतमान की आवश्यकता ही नही, भविष्य की सम्भावना की ओर भी सकेत करती है। 'जनता' कहने से कभी कभी वगचेतनाविहीन पूणत आत्मनिवासित, मिथ्या चेतना का शिकार और निष्क्रिय भीड का बोध होता है लेकिन सवहारा की धारणा म उस भ्राति की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

'सवहारा कला या 'सवहारा साहित्य' के सदभ मे कुछ ज्ञानी माक्सवादी यह आपत्ति उठाते है कि 'माक्स की रचनाओ म सवहारा कला की आवश्यकता और सम्भावना का कोई उल्लेख नही है।' इस आपत्ति के उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि माक्स और एगेल्स ने अपनी रचनाओ मे कला के वगगत स्वरूप, कलाकृतियो मे वगगत मूल्यो की स्थिति और कला के विचारधारात्मक रूप का विवेचन किया है। माक्स ने एक वग के राजनीतिक और साहित्यिक प्रतिनिधियो के उस वग के साथ सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। 'माक्स ने शेली के बारे मे कहा था कि वह पक्का क्रातिकारी था और अगर जीवित रहता तो समाजवादी हरावल (सवहारा) का साथ देता। एगेल्स ने सवहारा युग के आगमन का सकेत देने वाले दाते की आकाक्षा व्यक्त की है, उन्होने इलैण्ड के सवहारा वग और साहित्य के सम्बन्ध पर विचार किया है। क्या इन प्रमाणो के आधार पर यह कहना उचित नही है कि माक्स और एगेल्स ने 'सवहारा कला' और 'सवहारा साहित्य की 'आवश्यकता और सम्भावना पर विचार किया है ? इस प्रसग मे यह स्मरणीय है कि लेनिन ने सवहारा सस्कृति की चचा की है। उन्होने वर्गीय पक्षधरता के विरोधी साहित्यिक अतिमानवो की आलोचना करते हुए कहा है कि साहित्य को निश्चित रूप से सवहारा के सामान्य उद्देश्य का अग बनना चाहिए। वग-सघष और उसकी अनिवाय परिणति 'सवहारा के अधिनायकत्व' को स्वीकार करने वाले सवहारा सस्कृति

और सवहारा वला की आवश्यकता और सम्भावना को अस्वीकार नहीं कर सकते।

इसी प्रसग म कुछ दूरदर्शी मावसवादी यह आशका भी व्यक्त करते हैं कि चूकि वग सघष का उद्देश्य अंतत वर्गविहीन समाज की स्थापना है इसलिए वग विहीन समाज म सवहारा कला की क्या स्थिति होगी ? या सवहारा कला की धारणा की क्या साथकता रहगी ? इस प्रकार की आशका व्यक्त करने वाले सवहारा साहित्य या कला क केवल आन्दोलनकारी रूप को महत्व देते हैं और उसकी सामयिकता पर ही विचार करते हैं। वे यह भूल जाते हैं कि सवहारा साहित्य का एक ऐतिहासिक पहलू होता है तो दूसरा मानवीय पहलू भी होता है, इसलिए वगविहीन समाज म भी क्रातिकारी सवहारा कला या साहित्य की साथकता और महत्ता समाप्त नहीं हो जाती। सामाजिक यथाथ और मानवीय सम्बन्धों की जटिल समग्रता क चित्रण म ऐतिहासिकता क साथ साथ मानवीयता की व्यजना के कारण ही हर युग का महान साहित्य युगीन और युगातीत दोनों होता है। इस सदभ म यह भी कहना जरूरी है कि सच्ची लोकप्रिय सवहारा कला की सम्भावना वगविहीन समाज म ही होगी क्योंकि उसम सवहारा चेतना और मानवीय चेतना का पाथक्य समाप्त हो जायगा।

सवहारा कला और सवहारा साहित्य के सदभ म यह सवाल भी विचारणीय है कि क्या बुनियादी बदलाव के दौर म रचित सवहारा साहित्य म सवहारा के अतिरिक्त दूसरे शोषित वर्गों का समावेश नहीं होगा ? इस प्रश्न के उत्तर म यह कहा जा सकता है कि बुनियादी बदलाव के लिए सघष मे सवहारा के सभी सहयोगी वर्गों का समावेश होना चाहिए, क्योंकि एक तो बुनियादी बदलाव केवल सवहारा वग की आवश्यकता नहीं है और दूसरे, बुनियादी बदलाव की प्रक्रिया मे सम्पूर्णत शोषित जनता शामिल होती है। सवहारा साहित्य मे सवहारा के दष्टिकोण से सामाजिक सम्बन्धों की समग्रता का चित्रण होता है इसलिए सवहारा के मित्र वर्गों की उपेक्षा नहीं हो सकती। जिन देशों मे पूजीवाद के साथ साथ सामती समाज के अवशेष भी कायम हैं उन देशों के बुनियादी बदलाव मे मजदूर और किसान वग की समान महत्वपूण [illegible] को बुनियादी बदलाव से सहानुभूति [illegible] भी सवहारा साहित्य मे स्थान मिलेगा। [illegible] अल्पमत का साहित्य रहा है, लेकिन [illegible] साहित्य होता है क्योंकि इसमे सभी [illegible] व्यजना होती है। अगर किसी साहित्य म [illegible] क्रातिकारी रूप है, लेकिन उसमे

तो ऐसे साहित्य को जनवादी या सवहारा साहित्य कहने से कोई खास फक नही पडता।

सवहारा और साहित्य के सम्ब ध पर विचार करते समय अत म श्रम और कला तथा कलाकार के श्रमिक रूप और श्रमिक के कलाकार रूप के सम्ब ध पर विचार करना आवश्यक है। श्रम के माध्यम से मनुष्य की सामाजिकता ही नही उसकी मानवीयता का भी विकास होता है। श्रम की प्रक्रिया मे, माक्स के शब्दा म, मानवीय इन्द्रिया और इ द्रियो की मानवीयता (अर्थात इ द्रियबोध) का विकास और निर्माण होता है। इस प्रक्रिया म ही मनुष्य प्रकृति को मानवीय बनाता है। श्रम की प्रक्रिया मे मनुष्य अपन अस्तित्व और चेतना को वस्तु के रूप मे बदलता है और मानवीय अस्तित्व और चेतना के विषयीकरण की इस प्रक्रिया मे ही सौ दर्यानुभूति का भी विकास होता है, क्योकि मनुष्य श्रम के सहारे जो कुछ पैदा करता है उस वह केवल अपने अस्तित्व की आवश्यकताओ के लिए ही पैदा नही करता बल्कि, माक्स के शब्दा मे, सौ दय के नियमो के अनुसार भी पैदा करता है।' इस प्रकार मनुष्य द्वारा उत्पादित वस्तुआ का केवल उपयोगितावादी मूल्य नही होता, उनका सौदयबोधी मूल्य भी होता है। श्रम और कला दोना के स्वाभाविक विकास के लिए स्वत त्रता और सृजनशीलता की आवश्यकता होती है, इन दोना के माध्यम से ही मनुष्य अपने अस्तित्व और सत्व की व्यजना का प्रयत्न करता है, ये दोनो ही स्वत त्र और रचनात्मक मानवीय क्रियाए हैं। कला रचना एक विशिष्ट प्रकार का श्रम है जिसमे मनुष्य अपने अस्तित्व से अधिक सत्व को महत्त्व देता है। स्वत त्रता और सृजनशीलता ऐसी मानवीय विशेषतायें हैं जिनके अभाव मे श्रम और कला की स्वाभाविकता और मानवीयता नष्ट हो जाती है। लेकिन पूजीवादी समाज इन दोनो का दुश्मन है, इसीलिए माक्स ने कहा था कि पूजीवाद कला का दुश्मन है। पूजीवादी समाज मे हर चीज—चाहे वह कलाकृति हो या श्रम से उत्प न कोई दूसरी चीज—व्यापार की वस्तु बन जाती हैं उसका विनिमय मूल्य शेष सभी प्रकार के मूल्या से अधिक महत्त्वपूण होता है। पूजीवादी समाज मे श्रम का कलात्मक रूप नष्ट हो जाता है, श्रमिक की स्वत त्रता और रचनाशीलता समाप्त हो जाती है और कलाकार मजदूरी पर जीवन गुजारन वाला बन जाता है। पूजीवादी व्यवस्था मे श्रमिक जिस अलगाव की प्रक्रिया से गुजरता है, उसका कलाकार भी शिकार होता है। इस प्रकार दोनो ही अपने अस्तित्व के लिए अपने सत्व को खो देने को मजबूर होते हैं। माक्स ने लिखा है कि, "निश्चय ही लेखक को जीने के लिए जीविका की जरूरत होती है लेकिन वह केवल अपनी जीविका के लिए जीना और लिखना नही चाहता। लेखक अपनी रचना को कभी भी साधन (जीविका का साधन) नही समझता। अगर आवश्यक हो तो वह अपनी रचनाओ के अस्तित्व के लिए

अपने अस्तित्व का बलिदान कर देता है।' पूंजीवादी समाज मे जीनेवाले, अपनी रचनाओ मे पूंजीवादी समाज की अमानवीयता की व्यंजना करनेवाले और पूंजीवादी समाज के बाजारूपन से अपने सत्व की रक्षा करने वाले दुनिया भर के अनेक जनवादी रचनाकारा ने अपनी रचना के अस्तित्व के लिए अपने अपन अस्तित्व का बलिदान किया है। हिन्दी साहित्य मे निराला और मुक्तिबोध इस प्रकार के जानलेवा सघर्ष और आत्म बलिदान के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

पूंजीवादी समाज और कला के परस्पर विरोधी सम्बन्ध को ध्यान म रखकर अगर विचार किया जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि पूंजीवादी व्यवस्था और कलाकार के बीच लगभग छ प्रकार के सम्बन्धो की सम्भावना है। ऐसे सम्बन्धो का पहला रूप वह है जिसमे कलाकार पूंजीवादी सत्ता, संस्कृति और विचारधारा के प्रति आत्मसमर्पण करता है या ग्राम्शी के शब्दो मे पूंजीवादी व्यवस्था का 'आवयविक बुद्धिजीवी' बनकर उसके विचारो, हितो और उद्देश्यो का समर्थन, सचालन और सगठन करता है। इसे ही मुक्तिबोध ने 'रावण के घर पानी भरना' कहा है। सम्बन्ध का दूसरा रूप वह है जिसमे लेखक पूंजीवादी व्यवस्था की विकृतियो से ऊब कर आध्यात्मिकता या रहस्यलोक की ओर पलायन करता है। ऐसा करके वह अपने को उस समाज के बन्धनो से मुक्त मानता है जिसमे वह जीता है। यह पूंजीवाद से बचने के प्रयत्न मे सामन्तवाद की गोद मे जाना है। पूंजीवाद से कलाकार के सम्बन्ध का तीसरा रूप वह है जिसमे वह पूंजीवादी मूल्य व्यवस्था को अस्वीकार करता हुआ अन्तर्मुखी होकर 'कला के लिए कला' की रचना करता है। इस रछुआधर्मी प्रवृत्ति की सुविधा वही होती है जहाँ कलाकार अपने अस्तित्व सम्बन्धी चिन्ताओं से किसी-न किसी कारण से मुक्त होता है। पूंजीवादी समाज के साथ लेखक के सम्बन्ध का चौथा रूप वह है जिसम वह अपने व्यक्तित्व का विभाजन करता है, वह अपने कलात्मक व्यक्तित्व को व्यावसायिक व्यक्तित्व से पृथक करता है और एक ओर कलात्मक लेखन और दूसरी ओर व्यावसायिक लेखन करता है। कलात्मक लेखन से वह अपने सत्व की रक्षा करता है और व्यावसायिक लेखन से अपने अपने अस्तित्व की। लेकिन व्यक्तित्व के इस विभाजन का प्रभाव अन्तत उसके लेखन पर पडता है, उसका कलात्मक लेखन उसके व्यावसायिक लेखन से प्रभावित होता है। कुछ लेखक पूंजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकता को समझ कर उससे विद्रोह करते हैं वे बुर्जुआ समाज व्यवस्था और सामाजिक सम्बन्धो की निमम आलोचना करत हैं लेकिन उनकी दृष्टि म बुर्जुआ व्यवस्था से मुक्ति का कोई माग नही होता। ऐस रचनाकार जब अपनी रचना मे बुर्जुआ समाज की वास्तविकता की यथार्थवादी अभिव्यंजना करत हैं बुर्जुआ मानव-सम्बन्धो और मूल्य व्यवस्था की आलोचना करते हैं तो रचना महान होती है, लेकिन जब वे समझौतावादी समाधान

प्रस्तुत करते हैं तो रचना कमजोर होती है। यह पूजीवाद और उस समाज मे जीने वाले लेखक के सम्बध का पाचवा रूप है। पूजीवादी समाज व्यवस्था और लेखक के सम्बन्ध का छठा रूप वह है जिसम लेखक बुर्जुआ व्यवस्था, उसकी सस्कृति और विचारधारा के खिलाफ विद्रोह करता है, वह इतिहास की प्रक्रिया और दिशा को समझकर सघषशील क्रान्तिकारी सवहारा वग के उद्देश्यो के साथ एकता स्थापित करता है और सवहारा के दृष्टिकोण से पूजीवादी समाज को देखता है। ऐसा लेखक पूजीवादी व्यवस्था के अत को मानव मुक्ति की शुरुआत समझता है।

मार्क्स ने पूजीवादी समाज मे अपनी श्रमशक्ति बेचकर मजदूरी के सहारे जीने वाले श्रमिक और कलाकार दोनो को सवहारा कहा है क्योकि दोनो के पास अपने जीवन निर्वाह के लिए श्रमशक्ति के अतिरिक्त और कोई पूजी नही होती। पूजीवादी समाज व्यवस्था के अमानवीयकरण और अलगाव की प्रक्रिया के शिकार होकर दोनो सवहारा बन जाते है। लेकिन प्रश्न यह है कि दोनो की मुक्ति का उपाय क्या है? निश्चय ही दोनो की मुक्ति का रास्ता एक ही है और वह है सवहारा की वगचेतना का बोध। सवहारा की वगचेतना के बोध का अथ है उसके सघष और उद्देश्य से एकता कायम करना। श्रमिक और कलाकार की मुक्ति अलग-अलग नही हो सकती, सवहारा की मुक्ति से ही सम्पूण समाज की मुक्ति हो सकती है। मुक्तिबोध ने इस सम्पूण प्रक्रिया की प्रामाणिक, प्रभाव शाली और काव्यात्मक अभिव्यजना इस प्रकार की है—

"अरे जन सग उष्मा के
बिना, व्यक्तित्व के स्तर जुड नहीं सकते।

प्रयासी प्रेरणा के स्रोत,
सक्रिय वेदना की ज्योति,
सब साहाय्य उनसे लो।

तुम्हारी मुक्ति उनके प्रेम से होगी।
कि तद्गत लक्ष्य मे से ही
हृदय के नेत्र जागेंगे,
वह जीवन लक्ष्य उनके प्राप्त
करने की क्रिया मे से

उभर-ऊपर

विकसते जाएगे निज के
तुम्हारे गुण

कि अपनी मुक्ति के रास्ते
अकेले मे नहीं मिलते।"

३

इस लेख के प्रारम्भ म मार्क्स का जो कथन उद्धृत किया गया हैं उसमे निश्चय ही 'व्याख्या स अधिक बुनियादी 'बदलाव की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यह भी कहा जा सकता है कि उसमे सिद्धान्त' म अधिक 'व्यवहार को महत्त्व दिया गया है। इस बात पर विवाद हो सकता है कि साहित्य को 'सिद्धान्त के अन्तगत रखा जाय या व्यवहार' में, लेकिन यह स्वीकार करने म शायद बहुत कठिनाई नही होगी कि साहित्य वचारिक प्रक्रिया का परिणाम होने के कारण मुख्यत सैद्धान्तिक क्रिया है। साहित्य की यात्रा रचनाकार की चेतना से पाठक की चेतना तक होती है, इस प्रकार साहित्य को व्यापक अथ म सिद्धान्त' के अन्तगत रखा जा सकता है। साहित्य को सिद्धान्त के अन्तगत मानने के बाद यह विचारणीय हो जाता है कि बुनियादी बदलाव म उसकी भूमिका क्या है? बुनियादी बदलाव मुख्यत भौतिक सामाजिक रूपान्तरण होता है, केवल वैचारिक बदलाव नही। सारत बुनियादी बदलाव मनुष्य के बाह्य जगत और अन्तर्जगत के मूलगामी रूपान्तरण का परिणाम होता है। बुनियादी बदलाव के लिए मुख्य सघर्ष भौतिक सामाजिक क्षेत्र म होता है केवल लोगो के दिलो दिमाग मे नही। लेकिन यह ध्यान रखना होगा कि मार्क्स के अनुसार विचारधारात्मक रूपो मे जनता को अपने सघर्ष का बोध होता है और वह विजय तक सघर्षशील रहती है। इस प्रकार साहित्य वैचारिक सघर्ष का साधन तो है ही, वह उसके बोध का भी साधन है। दूसरे वह वैचारिक भावात्मक चेतना को जगाने और बनाने का काम भी करता है। साहित्य सिद्धान्त' का अग होने के बावजूद भौतिक शक्ति जैसा प्रभावशाली होता है। मार्क्स ने लिखा है, 'सिद्धान्त जब जनता के दिलो दिमाग पर छा जाता है तो वह एक भौतिक शक्ति बन जाता है।" लेकिन साहित्य की प्रभावशीलता एक ओर साहित्य के स्वरूप और दूसरी ओर जनता की ग्रहण शीलता से सीमित होती है। इसलिए बुनियादी बदलाव में साहित्य की सीमित भूमिका से ही सन्तोष करना उचित जान पडता है। कुछ लोग बुनियादी बदलाव मे साहित्य की भूमिका को पूर्णत अस्वीकार करते है तो इसके विपरीत कुछ दूसरे लोग बुनियादी बदलाव के सदर्भ मे साहित्य स अतिरिक्त उम्मीद कर बैठते हैं। बुनियादी बदलाव के लिए क्रान्तिकारी सिद्धान्त ही नही, क्रान्तिकारी व्यवहार की भी आवश्यकता होती है बल्कि दोनो की एकता की आवश्यकता

होती है। साहित्य की उपेक्षा करने वालों और साहित्य से अतिरिक्त अपेक्षा करने वालों को मार्क्स के इस कथन पर ध्यान देना चाहिए —

'निस्सन्देह, आलोचना के हथियार, हथियारों की आलोचना की जगह नहीं ले सकते। भौतिक शक्ति का तख्ता भौतिक शक्ति से ही उल्टा जाना चाहिए। किन्तु जनता के हृदय मे घर कर लेने पर सिद्धान्त भी एक भौतिक शक्ति बन जाता है।''

नये मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की आवश्यकता

आज जब नये सौदयशास्त्र की आवश्यकता महसूस की जा रही है और उसकी सभावना पर विचार करना जरूरी लगता है तो इससे यह जाहिर होता है कि समकालीन साहित्य के रचनात्मक व्यवहार मे एसा बदलाव आया है, कुछ नया घटित हो रहा है जिसकी व्याख्या और मूल्य मीमासा के लिए नये मूल्यपरक सिद्धात चितन की आवश्यकता है। सौदयशास्त्रीय चितन के इतिहास से यह सिद्ध होता है कि जब रचनाकम के स्वरूप और उद्देश्य मे क्रातिकारी परिवतन होता है तो ऐसी नयी कलाकृतिया रची जाती हैं जिनसे नये कलाबोध और कलात्मक मूल्यो का सजन होता है। नवीन कला बोध और कलात्मक मूल्यो के कारण कलात्मक सौदय और सौदयबोधीय मूल्यो की नयी धारणा का विकास होता है। इस प्रक्रिया से उत्पन्न नवीन कला चेतना और कला की धारणा की व्याख्या और औचित्य-विचार के लिये नये सौदयशास्त्र की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति मे कलात्मक सौदय के सजन और उसकी अनुभूति का मार्ग-दशक बन कर सौदयशास्त्र अपनी साथकता सिद्ध करता है। सौदयशास्त्र रचनाकम और आस्वादन क्रिया के बीच सहायक मध्यस्थ की भूमिका मे रहते हुए आस्वादन क्रिया के अनुभवो प्रभावो और सवेदनाओ से निष्कर्षित ज्ञान के आलोक मे रचना व्यवहार की प्रक्रिया और परिणामो का मागदशक बन सकता है।

सौदयशास्त्र का सम्बध सभी कलाओ से है और नये पुराने सौदयशास्त्र के स्वरूप की चर्चा करते समय सभी कलाओ को ध्यान मे रखना जरूरी है। साहित्य को एक कला मान कर दूसरी कलाओ के साथ ही उसके सौदयशास्त्र पर विचार करना बेहतर होगा। लेकिन हम साहित्य कला के सौदयशास्त्र, विशेषत हिंदी के नये साहित्य के सौदयशास्त्र, से सम्बधित सवालो तक ही अपनी चर्चा सीमित रखना चाहेंगे क्योकि एक तो इस परिसवाद मे भाग लेने वालो मे से अधिकाश के ज्ञान और क्रिया का साहित्य कला है दूसरे हमारे देश मे साहित्य के अतिरिक्त दूसरी कलाओ के क्षेत्र मे एसे क्रातिकारी परिवतन लक्षित नहीं हो रहे हैं जिनके आधार पर उनका नया सौदयशास्त्र विकसित हो सके। अगर ऐसे परिवतन हो रहे हैं तो हम उनका ज्ञान नही है, जिन्हे हो उन्हे इस दिशा मे प्रयत्न करना चाहिए। तीसरी बात यह है कि अनेक कारणो से हमारे

यहा विभिन्न कलाओ का ऐसा समन्वित विकास नही हो पाया है कि एक नये समन्वित सौंदयशास्त्र का स्वरूप चिन्तन सभव हो। साहित्य कला तक इस चर्चा को सीमित रखन का एक चौथा कारण यह भी है कि पुराना सौंदयशास्त्र जिस प्रकार के अमूत्तन अतिसामान्यीकरण और तत्त्ववाद का शिकार रहा है उससे बचने और अनुभवाश्रित सौंदयशास्त्र विकसित करने के लिए यह जरूरी है कि हम रचना और आस्वादन के अपने अनुभव क्षेत्र (साहित्य) से ही नये सौंदयशास्त्रीय चिन्तन की शुरुआत करें।

नये सौंदयशास्त्र की आवश्यकता पर विचार करने से पहले यह भी विचारणीय है कि आजकल हिन्दी साहित्य के सदर्भ मे नयी आलोचना (नयी आलोचना से मेरा तात्पय कुख्यात 'नयी समीक्षा' से नही है) के बदले नये सौंदयशास्त्र की बात क्यो की जाती है ? नयी आलोचना के बदले नये सौंदय-शास्त्र की बात करने के पीछे कही यह विचार तो नही है कि आलोचना की बात करना पुरानेपन या पिछड़ेपन का प्रमाण है। क्या आलोचना अपर्याप्त सिद्ध हो गयी है ? ऐसा तो नही है कि हिन्दी मे आलोचना के सिद्धात और व्यवहार की जो दशा है उसके कारण आलोचना अविश्वसनीय, अनावश्यक और अनुपयोगी हो गई है। आजकल कुछ रचनाकार हिन्दी आलोचना की वतमान स्थिति से असतुष्ट और आलोचको के आलोचनात्मक व्यवहार से नाराज होने के कारण आलोचना को ही अनुपयोगी समझने लगे हैं। आलोचना के धर्म और आलोचना कर्म की साथकता के प्रश्न पर विवाद का इतिहास उतना ही पुराना है जितना रचना और आलोचना के सम्बन्ध का। प्राय हर काल के रचनाकार समकालीन आलोचना से असतुष्ट होते हैं और कभी कभी असफल रचनाकार आलोचक भी बन जाते है, लेकिन इससे आलोचना की अनिवार्यता समाप्त नही होती। जब यह कहा जाता है कि 'आलोचक उसूल बक रहा है और अलग पड रहा है पाठक मूल पढ रहा है और अमल कर रहा है' तो इसमे आलोचक की अक्षमता या असफलता का बोध होता है, रचना और आलोचना का अलगाव प्रकट होता है, लेकिन इसस आलोचना की निरथकता साबित नही होती। जिस तरह आलोचक की रचनाओ को समझने की जरूरत है वैसे ही रचनाकारो को अपनी आलोचना से बिदकने की नही उसे सहने और उससे सीखने की जरूरत है। आलोचना के बदले नये सौंदयशास्त्र की माग करने वाले कुछ ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो आलोचना और सौंदयशास्त्र को अभिन्न समझते हैं। आलोचना रचना की मुख्यत आस्वादपरक व्याख्या है और सौंदयशास्त्र मूल्यपरक मीमासा, लेकिन मूल्याकन आलोचना का अनिवाय अग है और कलात्मक अनुभव सौंदयबोधी मूल्यो की पहचान की आवश्यक प्रक्रिया का अग। सौंदयशास्त्र और आलोचना परस्पर पूरक हैं, हमे दोनो की जरूरत है, दोनो को विकसित करना है।

हिन्दी का कोई अपना सौन्दयशास्त्र अब तक विकसित नही हो पाया है, इसलिये यहा जो सौन्दयशास्त्र विकसित होगा—अगर वह समकालीन रचना को घ्यान मे रखकर विकसित किया जायेगा तो वह नया ही होगा। यह सौन्दयशास्त्र की चिन्ता करने वालो पर निभर है कि वे उसे कितना समकालीन और सामाजिक बना पाते हैं। आचाय रामचन्द्र शुक्ल और मुक्तिबोध ने साहित्य के सदभ मे कलात्मक सौन्दय और सौन्दर्यानुभूति की मूलभूत समस्याओ पर महत्त्वपूण सैद्धातिक चिन्तन किया है। हिन्दी साहित्य मे नये सौन्दयशास्त्र को विकसित करते समय उनके विचारो पर ध्यान देना जरूरी है। नये सौन्दयशास्त्र के स्वरूप पर विचार करते समय यह भी विचारणीय है कि हम नये साहित्य के सौन्दयशास्त्र की आवश्यकता है या साहित्य के नये सौन्दयशास्त्र की ? फिलहाल तो यही कहना ठीक होगा कि नया साहित्य नये सौन्दयशास्त्र की माग करता है, इसलिए हमे नये साहित्य का नया सौन्दयशास्त्र विकसित करना है। अगर नया साहित्य नयी जनवादी चेतना का साहित्य है तो उस जनवादी चेतना की अन्तवस्तु और रूप के समानान्तर प्रगतिशील सौन्दयशास्त्र को साहित्य, समाज और इतिहास के सम्बन्धो की विवेचना के साथ साथ रचनाकम के सिद्धात और व्यवहार तथा जीवन तथ्य और मूल्य-चेतना की सगति असगति का विश्लेषण करते हुए जीवन के विचारक्षेत्र और कायक्षेत्र की एकता का बोध विकसित करना होगा।

नये सौन्दयशास्त्र के स्वरूप पर विचार करते समय सौन्दयशास्त्र का 'नयापन' भी विचारणीय है। प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र की एक सुदीघ परम्परा है, प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र ही पुराना सौन्दयशास्त्र भी है। लेकिन यह ध्यान रखने की बात है कि आधुनिक काल मे कला रचना के क्षेत्र मे नयी रचनाशीलता के विकास के साथ साथ प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र के स्वरूप म भी विकास हुआ है उसमे भी नयापन आया है। प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र की दाशनिक मनोवैज्ञानिक, कलावादी और सामाजिक धाराओ का इतिहास पुराना है। माक्सवादी सौन्दयशास्त्र प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र की तुलना मे नया है और यह नया इसलिए भी है कि वह नये युग की प्रगतिशील मानव चेतना के विकास मे सहायक है। नये के नाम पर कुछ लोग भ्रमवश या चालाकी से नये प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र को, जो बूजुआ सस्कृति और कला के सरक्षण का शास्त्र है हमारे लिए उपयोगी न सिद्ध करने लगे यह जरूरी है कि हम यह तय कर लें कि हमे नये प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र की आवश्यकता है या माक्सवादी सौन्दयशास्त्र की ? मुझे ऐसा लगता है कि नये सौन्दयशास्त्र की माग करने वाले निश्चय ही माक्सवादी सौन्दयशास्त्र को ही नया और आवश्यक समझते हैं। लेकिन माक्सवादी सौन्दयशास्त्र भी जनवादी कला के विकास के साथ साथ लगभग एक शताब्दी मे पर्याप्त

विकसित हुआ है। विभिन्न समाजवादी देशो मे उन देशा की अपनी कला और समाज सम्बन्धी अनिवार्यताओ की माग के अनुरूप मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र का विकास हुआ है। जो देश जनवादी क्रान्ति के दौर से गुजर रहे है उन देशो मे जीवन की वास्तविकता और कला की आवश्यकताएँ वैसी ही नही है जैसी समाजवादी देशो म, इसलिये समाज और कला के स्वरूप की भिन्नता के कारण उनके सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन मे भी भिन्नता है और हागी। अनुपलब्ध को उपलब्ध मानकर चिंतन करना कल्पनावाद है, मार्क्सवाद नही। अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और कला सम्बन्धी वास्तविकताओ और आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर विकसित किया गया मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र ही हमारे लिए नया होगा और रचना कर्म का मार्गदर्शक भी। नया वही है जो वर्तमान के लिये प्रासंगिक और भविष्य के लिए दिशा निर्देशक है।

समकालीन संदर्भ मे नया सौन्दर्यशास्त्र विकसित करने का उद्देश्य है ऐसा सौदर्यशास्त्र विकसित करना जो वर्तमान भारतीय समाज, इतिहास और साहित्य के लिये प्रासंगिक हो, जिसमे हमारी कला—परम्परा और कला चिंतन की परम्परा के जनवादी तत्त्वो का समावेश हो, देशी विदेशी भाववादी अध्यात्मवादी सौदर्यशास्त्रीय चिंतन के जीवन निरपेक्ष कलावादी मूल्यो के भ्रमो और भटकावो से बचाव हो और जो समकालीन रचनाशीलता के लिये उपयोगी हो। ऐसे सौन्दर्यशास्त्र के विकास के लिए हमे अनेक वैज्ञानिक मोर्चों पर संघर्ष करना होगा। सबसे पहला संघर्ष तो प्राचीन और आधुनिक भारतीय सौन्दर्यशास्त्रीय चिंतन की भाववादी अध्यात्मवादी परम्परा स करना होगा, जिसके संस्कार अब भी हमारी कला चेतना मे बसे हुए हैं और जनवादी साहित्य और कला के सौंदयबोध म बाधक सिद्ध होत हैं। समरसता या समन्वय मे सौन्दर्य देखने वाली दृष्टि संघर्ष मे सौन्दर्य नही देख सकती। आत्मा की आनंदमयता के आधार पर कविता मे रस की आनन्दमयता की खोज करने वाली कलादृष्टि वर्तमान समाज की विरूपता का चित्रण करनेवाली कला की उपेक्षा ही करेगी। कला बोध के संदर्भ मे संस्कार और अनुभव का द्वन्द्व होता है। पुराने संस्कारो से अवरुद्ध 'जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि' नवीन कलात्मक अनुभवो को स्वीकार करने म असमर्थ होती है। लेकिन हमे पुराने संस्कारो को नहीं, नये कलात्मक अनुभवो को महत्व देना है और नये अनुभवो के अनुरूप अपने कलाबोध को विकसित करना है। नया सौदयशास्त्र नये साहित्य के अनुरूप नया सौन्दर्यबोध विकसित करने का साधन बनकर अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकेगा। हमारे संघर्ष का दूसरा मोर्चा पाश्चात्य प्रत्ययवादी सौन्दर्यशास्त्र की नयी पुरानी प्रवृत्तियो परम्पराओ और मान्यताओ से संघर्ष का होगा। पश्चिम मे सौन्दर्यशास्त्र दर्शन के अंग के रूप मे विकसित होने के कारण प्रत्ययवादी दर्शन के तत्ववाद और मूल्य प्रणाली

ग गहराई तक प्रभावित है, उस पर प्रत्ययवादी चिंतन की आध्यात्मिकता का भी गहरा प्रभाव है। आजकल पश्चिम म कुछ सौंदयशास्त्री पुरान प्रत्ययवादी सौंदयशास्त्र के तत्त्ववाद, अमूर्तन और सामान्यीकरण स बचकर रचनानिष्ठ सौंदयशास्त्र विकसित करने का प्रयत्न कर रहे हैं लकिन उनके चिंतन का दायरा प्रत्ययवादी ही है, चाहे वह जितना भी सशोधित क्यो न हो। जाहिर है वस्तुवादी चिंतन इस प्रत्ययवादी दायरे से पूरी तरह मुक्त होने के बाद ही सभव है, इसलिए मार्क्सवादी सौंदयशास्त्र विकसित करने के लिए प्रत्ययवादी (मेटा फिजिकल) चिंतन प्रणाली से मुक्ति और द्वद्वात्मक ऐतिहासिक भौतिकवादी चिंतन प्रणाली को अपनाने की आवश्यकता है। पश्चिम मे प्रत्ययवादी सौंदय शास्त्र ने हमारे साहित्य चिंतन और कला चेतना को इतना प्रभावित किया है कि कुछ लोग सौंदयशास्त्र का अर्थ पाश्चात्य प्रत्ययवादी सौन्दयशास्त्र ही समझते हैं। बुर्जुआ विचारधारा ने अपने दशन, कला और सस्कृति को सावभौम और शाश्वत सिद्ध करने का ऐसा प्रयत्न किया है कि कई बार उस विचारधारा के विरुद्ध सघप करने के लिये प्रतिबद्ध जन भी उसके भ्रमजाल मे फस जाते हैं। इसका एक प्रमाण तो यही है कि कुछ रचनाकार जनवादिता की दुहाई देने के बावजूद 'जनवादी अन्तर्वस्तु और बुर्जुआ कलारूप' की एकता की बात इस विश्वास और अदाज से करते है मानो वस्तु और रूप मे कोई आपसी सम्बन्ध ही न हो। आलोचक कृति म निहित या व्यक्त 'राजनीति' को छोडकर केवल उसके सौंदयबोधी मूल्यो की बात करत हैं कला और विचारधारा के सम्बन्ध को ठीक से न समझ पाने के कारण ललित कलाओ को विचारधारात्मक रूपो से बाहर मान लेते हैं। जनवादी कला और साहित्य के निर्माण का दावा और बुर्जुआ सौंदयशास्त्रीय प्रतिमानो या सौंदयबोधीय मूल्यो कलात्मक आदर्शों की प्राप्ति की कामना मे जो असगति है वह प्रत्ययवादी सौंदयशास्त्रीय चिंतन के प्रभाव का द्योतक है।

नये सौंदयशास्त्र के विकास के लिए सघप का एक तीसरा मोर्चा है जहा अधिक सजगता और सावधानी की जरूरत है। मार्क्सवादी सौंदयशास्त्रीय चिंतन मे समय समय पर प्रकट होने वाले देशी विदेशी सशोधनवादी, सकीर्ण-तावादी और भोडे समाजशास्त्रीय भटकावो से सघप करना नये मार्क्सवादी सौन्दयशास्त्र के विकास के लिए आवश्यक है। मार्क्सवादी सौंदयशास्त्रीय चिंतन म ऐसे भटकाव मूलत राजनीतिक मोर्चे मे साहित्य और कला की ओर आते हैं इसलिये इस सघप की आधारभूमि तो राजनीति ही है, लेकिन राजनीति और सस्कृति के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकारते हुए, कला और साहित्य की सापेक्ष स्वायत्तता को समझ कर सौंदयशास्त्रीय चिंतन में इस तरह के वैचारिक सघप को कायम रखना जरूरी है। आजकल अपने को मार्क्सवादी

कहने वाले कुछ लोग जब सवहारा के अधिनायकत्व को अस्वीकार कर रहे हैं तब इस प्रकार के वैचारिक सघप की और अधिक आवश्यक्ता बढी है। क्रातिकारी सघप स बचने के लिये सुविधाजीवी मार्क्सवादियो को ऐस सशोधनो की आवश्यकता सदैव महसूस होती है। हम सब जानत हैं कि आजकल बाजारो मे मार्क्सवाद के न जाने कितने सशोधित सस्करण सस्ते सुलभ कराये जा रहे हैं। लेनिन ने कहा था कि मार्क्सवादी वह है जो वग सघप को सवहारा के अधिनायकत्व तक ले जाता है। (राज्य और क्राति) सवहारा के अधिनायकत्व को अस्वीकार करना क्या वग सघप और अनिवाय परिणतियो को अस्वीकार करना नही है ? दूसरा को गैर मार्क्सवादी सिद्ध करने के लिए एडी चोटी का पसीना एक करन वाले हिंदी के एक मार्क्सवादी आलोचक का कहना है कि 'राजसत्ता मजदूर वग की डिक्टेटरशिप होगी, यह सिद्धात गलत है।' विचार करने की बात है कि लेनिन और इस लेखक मे किस सही और मार्क्सवादी समझा जाय ? इसी आलोचक की यह भी स्थापना है कि 'ललित कलाओ को विचारधारा के रूपो मे गिनना सही नही है।'' इस कथन के बाद तो यही सवाल पैदा होता है कि क्या यह मार्क्सवादी चिन्तन है ? विचार को केवल भाषा तक सीमित मानने के बाद यह घोषणा करना कि ' कोई भी ललित कला शुद्ध विचारधारा के अतगत नही आती, साहित्य भी नही आता'' न केवल भ्रामक मार्क्सवादी चिन्तन का परिणाम है, बल्कि इसमे शुद्ध वैचारिक असगति भी है। ऐसे सौंदयशास्त्रीय चिन्तन के मार्क्सवाद से हम कितनी सावधानी की जरूरत है यह अलग से बताने की जरूरत नही है। इस प्रकार के साहित्य चिन्तन और राजनीतिक चिन्तन मे एक गहरा रिश्ता होता है। जो जनवादी साहित्य वग सघप की वास्तविक और उसकी परिणतियो की समग्रता को पहचानते हुए जनवादी क्राति की ओर अग्रसर होती हुई जनता की सघषशील चेतना के निमाण और अभिव्यजना के लिए प्रतिबद्ध होगा, उसका सौंदय शास्त्र कला की आवश्यक्ताओ के साथ साथ क्राति की आवश्यक्ताओ को भी ध्यान मे रखेगा।

नये सौंदयशास्त्र के विकास के लिए हम सघप, मुक्ति और विकास की प्रक्रिया स गुजरना होगा। विरोधी विचारो से सघप हानिकर प्रभावो से मुक्ति और परम्परा के साथक तत्वो का समाहार करते हुए नया सौंदयशास्त्र विकसित होगा। ध्यान रखने की बात है कि सग्रह और त्याग का काम समझदारी के साथ हो न कि अध श्रद्धा या अधविरोध के आवेश मे—''सग्रह त्याग न बिनु पहिचाने।'

ग्राम्शी ने समाज मे बुद्धिजीवियो के वर्गीय स्वरूप और भूमिका पर विचार करते हुए लिखा है कि बुद्धिजीवियो को वर्गो से परे एक सामाजिक इकाई समझने की धारणा एक मिथ है। बुद्धिजीवियो की बौद्धिकता का चरित्र

उसके सामाजिक वाय से निर्धारित होता है। इस दृष्टि से दो प्रकार के बुद्धि जीवी होते है—एक, परम्परागत पेशेवर बुद्धिजीवी और दूसरे, आवयविक बुद्धिजीवी। परम्परागत पेशेवर बुद्धिजीवियो की समाज म एक अतवर्गीय सत्ता होती है, वे अपनी वर्गीय स्थिति को छुपाने की कोशिश करते हैं लेकिन अतत उनकी सत्ता और उनके बौद्धिक कम का चरित्र उनके अतीत और वतमान के वगगत सम्ब धो से ही निर्धारित होता है। आवयविक बुद्धिजीवी अपन वग के विचारो और आकाक्षाओ के सगठनकर्ता के रूप मे काम करते है। व अपने वग के विचारो और आकाक्षाओ के विधायक और दिशा निर्देशक भी होते है। साहित्यकार बुद्धिजीवी माने जाते हैं। सुविधा की दृष्टि से अधिकाश साहित्यकार परम्परागत बुद्धिजीवी की भूमिका मे रहने की कोशिश करते हैं या समझ जात है। लेकिन जिन रचनाकारो को सच्चे अर्थो म जनवादी साहित्यकार होना है उन्हे *सवहारा के आवयविक बुद्धिजीवी के रूप मे अपने को ढालना होगा।* वग सघष के तीव्रता से गतिशील होने के दौर मे परम्परागत बुद्धिजीवी होने की किसी को सुविधा नही हो सकती, उसे एक न एक वग से जुडना ही पडता है। आज के दौर मे यह भी जरूरी है कि सवहारा वग से रचनाकार उभरकर सामने आयें और नये सौन्दयशास्त्र को ऐसे रचनाकारो की रचनाओ के कलात्मक सौन्दय का विश्लेषण करना है। सवहारा वग मे आये रचनाकारा की रचनाओ की समालोचना करते समय यह देखना जरूरी है कि उन रचनाओ मे सवहारा वग के विचारो, आकाक्षाओ और जीवन मूल्यो की अभिव्यजना का कलात्मक रूप और आधार क्या है? पेटी बुजुआ वग से आये रचनाकारो को बुजुआ वग मे आये शरणार्थी के रूप मे देखने के बदले यह देखने की जरूरत है कि ऐसे रचनाकार अपने वगगत सस्कारो, विचारो और आकाक्षाओ से मुक्त होकर अपने को डी क्लास करते हुए सवहारा के अग्र चेतना और मूल्यबोध के स्तर पर बन सके हैं या नही। अपने वर्गीय भ्रमो और भटकावो से मुक्ति के लिए आत्म सघष के माध्यम से अपने व्यक्तित्व का रूपान्तरण करने वाले कलाकारो की सहानुभूतिपूण आलोचना मे ही जनवादी रचनाशीलता समद्ध होगी। केवल निषेध और बहिष्कार की भावना से ही सचालित साहित्य—विवेक जनवादी साहित्य के विकास म कितना बाधक सिद्ध होता है यह हम हिन्दी साहित्य के पुराने प्रगति शील आदोलन म सीख सकते हैं। हिन्दी मे सवहारा के आवयविक साहित्यकार अभी पर्याप्त सख्या म अगर उभरकर सामने नही आ रह हैं तो इसका कारण केवल साहित्य या सौन्दयशास्त्रीय चितन म ढूढने के बजाय समाज और जनवादी राजनीति के चरित्र म ढूढना विशेष उपयोगी होगा। हिन्दी के अधिकाश साहित्यकार मध्यम वग के हैं और उनके पाठक भी अब तक अधिकाशत मध्यम वग के ही रहे हैं। लेकिन यहा पुराने प्रगतिशील आदोलन से लेकर आज तक

ऐसा साहित्य पर्याप्त मात्रा मे लिखा गया है जो सच्चे अर्थों म जनता का साहित्य है। ऐसे साहित्य को किसान-मजदूर वग के पाठकों तक पहुचाने या किसान मजदूर वग ऐसे साहित्य के लिए पाठक तैयार करने का महत्वपूर्ण दायित्व नये सौन्दयशास्त्र के जिम्मे होना चाहिये। किसान मजदूर वग की कलाचेतना और जनवादी साहित्य के बीच जो खाई है उसे पाटने का काम नया सौंदयशास्त्र कर सकता है। हमारे समाज म सामती और बुजुआ जीवन मूल्यों और सौंदय-बोधी मूल्यों का जो आतककारी प्रभाव है उसे तोडना, जनवादी जीवन मूल्यो और सौंदयबोधी मूल्यों का विकास करते हुए मरणोन्मुख बुर्जुआ संस्कृति के प्रभुत्व को समाप्त करना और एक सशक्त जनवादी संस्कृति की निर्माण प्रक्रिया को शक्ति, गति और दिशा देना नये सौंदयशास्त्र का लक्ष्य होना चाहिये। यह ध्यान देने की बात है कि सशक्त जनवादी संस्कृति के निर्माण के लिए केवल आदोलनकारी साहित्य की रचना पर्याप्त नही है, बल्कि कला की मुक्तिधर्मी प्रवृत्ति को जनता की मुक्तिकामी चेतना से जोडने वाला, जनचेतना की सृजन शीलता को विकसित करने वाला साहित्य भी आवश्यक है।

सौंदयशास्त्र सृजनशीलता से लेकर सप्रेषण तक के रचनात्मक व्यवहार में निहित प्रक्रियाओं, मूल्यों और समस्याओं की सैद्धांतिक मीमासा करते हुए रचनाओं के अभिग्रहण और पाठकों के सौंदयबोध को विकसित करने का प्रयत्न करता है। नये सौंदयशास्त्र को कृतियों के कलात्मक सौंदयबोधीय मूल्यों का ही नही, उनके राजनीतिक प्रयोजन और प्रभाव का भी मूल्यांकन करना है। हम एक ऐसे साहित्य चिंतन और कला दशन म शिक्षित हुए हैं जिसमे शुद्ध कलात्मक मूल्यों के नाम पर बुर्जुआ संस्कृति और समाज व्यवस्था के लिए 'खतरनाक' साहित्य और काव्य की पहचान के लिए आवश्यक चेतना का विकास होने ही नहीं दिया जाता है। यहा दुहाई शुद्ध कलात्मक मूल्यों की दी जाती है, लेकिन प्रयोजन बुर्जुआ संस्कृति की सुरक्षा का होता है। दलित जनता द्वारा या ऐसी जनता के लिए रचित अधिकाश साहित्य बुर्जुआ सौंदयशास्त्रीय चिंतन की चालाकी का शिकार है। नया सौंदयशास्त्र मुट्ठी भर अल्पमत यानि सुविधा भोगी लोगों की सौंदयबोधी ऐय्याशी की सेवा करने के बदले दलित मानवता के विशाल जनसमूह की पीडित चेतना, 'सतचित्‌वेदना' की व्यजना करने वाली कला और साहित्य के सौंदयबोधी मूल्यों को प्रकाश मे लाकर, जनता के मन म सौंदय की भावना जगाकर ही साथक होगा। बुजुआ सौंदयशास्त्र जनवादी कला और साहित्य की मूल्यवान्‌ विरासत मे जनता को वंचित करने का षडयन्त्र करता है। जनवादी सौंदयशास्त्र को बुजुआ सौंदय चिंतन के इस षड्यंत्र से जनता को बचाना है।

साहित्य और कला के सदर्भ म सिद्धांत और व्यवहार के द्वद्वात्मक

विचारशील सम्बन्ध में बोध न हो तभी सौन्दर्यशास्त्र निर्मित हो सकता है। हिन्दी में अधिकांश साहित्य और कला सम्बन्धी मान्यताओं चिंतन में भी व्यवहार और सिद्धांत की एकता का अभाव मिलता है। रचना व्यवहार और आलोचना सिद्धांत के अलगाव के कारण आलोचना समकालीन रचनाशीलता के साथ साथ नहीं चल पाती है। यहां कुछ आलोचना या परम्परा प्रेमी मन तब तक किसी रचना या रचनाकार पर विचार करने के लिए तैयार नहीं होता जब तक वह परम्परा का अंग न बन जाय। समकालीन रचना-परिवेश को समझने के बदले परम्परा की महानता का गुणगान करने वाला कला चिंतन व्यवहार और सिद्धांत की एकता का खण्डन करता है। जब सैद्धांतिक चिंतन समकालीन रचनात्मक व्यवहार से अनुप्रेरित और प्रभावित होता है और रचनात्मक व्यवहार सिद्धांत चिंतन से अनुशासित तब सिद्धांत और व्यवहार की एकता प्रकट होती है। समकालीन परिस्थिति की यह मांग है कि हम रचनात्मक सम्भावनाओं की तलाश करने वाला सौन्दर्यशास्त्र चाहिए केवल अतीत की उपलब्धियों का मूल्यांकन करने वाला नहीं। रचनात्मक व्यवहार से पीछे रह जाने वाला सौन्दर्यशास्त्र अतीतजीवी होगा। सिद्धांत व्यवहार के अनुभवों का संचित सारूप होता है और व्यवहार सिद्धांत की सचाई की कसौटी। कला सम्बन्धी सिद्धांत कला रचना के व्यवहार की शान व्यवस्था का ही परिणाम है। हिन्दी आलोचना में रूढ़ीभूत सौन्दर्याभिरुचि के व्यापक प्रभाव का ही यह परिणाम है कि निराला और मुक्तिबोध जैसे रचनाकार अपने रचना-काल में उपेक्षित रह जाते हैं। निराला और मुक्तिबोध के संदर्भ में हिन्दी आलोचना के सिद्धांत और व्यवहार को देखें तो स्पष्टतः उसकी तीन अवस्थाएं दिखाई देती हैं। पहली अवस्था दुर्बोधता के आरोप और उपेक्षा की है, दूसरी *अवस्था अन्वेषण और प्रचार की और तीसरी अवस्था बोध और मूल्यांकन की* है। मुक्तिबोध अभी दूसरी अवस्था में है और निराला तीसरी में। नये सौन्दर्यशास्त्र को इस ट्रैजिक प्रक्रिया को तोड़ना होगा। जब सौन्दर्यशास्त्र सर्जनशीलता को अवरुद्ध करनेवाला हो जाय या रचनाशीलता से कटकर अलग जा पड़े शास्त्र कर्म को कुण्ठित करने लगे अर्थात सिद्धांत व्यवहार में बाधक सिद्ध होने लगे तो सर्जनशीलता कर्म और व्यवहार की प्रगति के लिए शास्त्र और सिद्धांत में परिवर्तन आवश्यक हो जाता है। सौन्दर्यशास्त्र को रचनात्मक उत्पादन का दुश्मन नहीं सहायक होना चाहिये। सौन्दर्यशास्त्रियों को सिद्धांतों की ऊँची मीनारों से रचनाओं और रचनाकारों पर कृपादृष्टि डालने या 'साहित्य का दरोगा' बनने के बदले साहित्य और साहित्यकारों का साथी बनना उचित है। जिस तरह राजनीति में मार्क्सवाद कर्म का मार्गदर्शक दर्शन है कोई 'डाग्मा' नहीं, वैसे ही साहित्य और कला के क्षेत्र में नए मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र को रचनाकर्म का

'सौ दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है। अपने से परे उठने और परे जाने की मनुष्यक्षमता से उसका पूरा सम्ब ध है।" कला की इस मुक्तिधर्मी क्षमता का विश्लेषण करना नये सौन्दयशास्त्र का एक अनिवाय कतव्य है। हमारे सामाजिक जीवन मे जिस गति स विरूपता का प्रसार हो रहा है उसे देखकर यह भी कहा जा सकता है कि मानवीय सवेदनशीलता की रक्षा के लिए सौ दय-शास्त्रीय चितन का उपयोग हो सकता है। सौन्दय की सामाजिक सत्ता और सौन्दर्यानुभूति की सामाजिकता की व्याख्या करन वाला सौन्दयशास्त्र आज हमारे लिये उपयोगी है न कि सौ दय की व्यक्तिनिष्ठता और समाज निरपक्षता को स्वीकार करने वाला। अगर सौन्दयशास्त्र सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी, रचनाकारो के लिये मागदशक, कलात्मक सौन्दय के अनुभव मे पाठको का सहायक, मानव जीवन के उत्कष का प्रेरक और सपूण मानवीय सवेदन शीलता के विकास का साधन न हो सके, तो ऐसे सौन्दयशास्त्रीय चितन की बौद्धिक ऐयाशी के बदले सामाजिक दष्टि से उपयोगी कोई दूसरा काम करना बेहतर होगा।

सामाजिक सत्य और रचना का माध्यम

साहित्य की आलोचना को मूलगामी आलोचना या साहित्य के साथ साथ अपने समय के समाज और संस्कृति की आलोचना बनाने के लिए साहित्य की एक ऐसी धारणा की आवश्यकता है, जो साहित्य और समाज के सम्बन्ध को अधिक व्यापक रूप में व्यक्त करे। साहित्य की यह धारणा ऐसी होनी चाहिए जो साहित्य और समाज के आपसी सम्बन्ध की अनिवार्यता गहराई, जटिलता और द्वन्द्वात्मकता को सामने लाये। इस नयी धारणा में साहित्य और समाज के सबंध बोध के साथ साथ साहित्य के विशिष्ट स्वरूप का बोध उसके विधागत सन्दर्भ की विशिष्टता में भी होना चाहिए।

साहित्य की नई धारणा यह है कि साहित्य मानवीय सामाजिक व्यवहार (सोशल ह्यूमन प्रेक्सिस) का एक विशिष्ट रूप है। प्रेक्सिस का एक अर्थ व्यवहार है और दूसरा अनुभव। इस तरह साहित्य एक ओर सामाजिक मानवीय व्यवहार का एक विशिष्ट रूप है तो दूसरी ओर सामाजिक मानवीय अनुभव का एक विशिष्ट रूप भी। साहित्य रचना को प्रेक्सिस कहने का एक अर्थ यह भी है कि वह विज्ञान से भिन्न है। वह केवल ज्ञान नहीं है। 'प्रेक्सिस' की प्रक्रिया में मनुष्य की सृजनशीलता व्यक्त होती है और उसके अनुभव जगत का विस्तार और विकास भी होता है। इस 'प्रेक्सिस' के माध्यम से ही मनुष्य, प्रकृति, समाज और अपने को बदलता है।

इस तरह प्रेक्सिस मानव समाज के विकास का एक महत्त्वपूर्ण कारण है। साहित्य सामाजिक मानवीय व्यवहार होने के कारण ही समाज और मनुष्य की चेतना के बदलाव का कारण बनता है। मानव व्यवहार मनुष्य के जैविक, सामाजिक और वैयक्तिक पहलुओं से जुड़ा होता है। यह उसके भौतिक उत्पादन से लेकर बौद्धिक मानसिक उत्पादन तक (जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं से लेकर कलाकृतियों तक) व्याप्त है। श्रम मानवीय व्यवहार की प्रक्रिया की एक बुनियादी वस्तु है और श्रम की सम्पूर्ण प्रक्रिया से मानवीय व्यवहार की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। मानव समाज के इतिहास में मानवीय श्रम की प्रक्रिया के विकास के साथ साथ ही मानवीय व्यवहार का स्वरूप भी विकसित हुआ है। मानव समाज और सभ्यता के विकास के दो अनिवार्य तत्त्व हैं—मानवीय श्रम और

मानवीय व्यवहार। सभ्यता, संस्कृति, कला और साहित्य को मानवीय श्रम और व्यवहार की विकास प्रक्रिया की देन कहा जा सकता है।

कला और साहित्य को मानवीय व्यवहार कहने का यह अर्थ नहीं है कि ज्ञान या सिद्धात मे उसका कोई सम्बन्ध नही। अनुभव, सिद्धात और व्यवहार का जो सम्बन्ध सामाजिक जीवन के दूसर क्षेत्रो मे होता है, वह यहा भी है। क्रातिकारी व्यवहार बुनियादी तौर पर मानवीय व्यवहार के प्रत्येक क्षेत्र मे लगभग एक सा होता है। कुछ लोग यह कहते है कि साहित्य और कला मूलत सैद्धातिक मानवीय क्रियाए है। फिलहाल इस विवाद म न पडकर यही कहना उचित होगा कि साहित्य और कला के निर्माण म मानवीय व्यवहार का एक विशिष्ट रूप प्रकट होता है और इसका मानवीय चेतना की सैद्धातिक और ज्ञानात्मक गतिविधिया से भी गहरा सम्बन्ध है।

कला और साहित्य को मानवीय व्यवहार का एक विशिष्ट रूप कह देने स ही कला और साहित्य की मूलगामी आलोचना की समस्याए समाप्त नही हो जाती, बल्कि इसके बाद ही उनकी जटिलता का अहसास होता है। इस सन्दर्भ मे सर्वाधिक महत्त्वपूण बात यह है कि कला और साहित्य को मानवीय व्यवहार मानने पर उनकी सामाजिकता स्थापित होती है और दूसरे सामाजिक व्यवहारो से उनके सम्बन्ध के बोध की अनिवायता भी प्रकट होती है। यही यह महत्त्वपूण सवाल भी सामने आता है कि प्रत्येक सामाजिक व्यवहार का एक विशिष्ट रूप होता है, सामाजिक व्यवहारो की परस्पर सबद्धता के साथ साथ उनकी अपनी सापेक्ष स्वायत्तता भी होती है, इसलिए साहित्य और कला को सामाजिक मानवीय व्यवहार मानने के साथ साथ उनकी निजता, विशिष्टता और सापेक्ष स्वायत्तता की पहचान आलोचना के लिए जरूरी है।

मानवीय व्यवहार के एक विशिष्ट रूप के तौर पर कलात्मक और साहित्यिक व्यवहार का एक निजी स्वरूप होता है। प्रत्येक मानवीय व्यवहार के उपादान, प्रक्रिया और प्रयोजन के अनुसार ही उसका विशिष्ट स्वरूप विकसित होता है। साहित्य और कला के उपादान, रचना प्रक्रिया और प्रयोजन की भिन्नता के कारण दूसरे सामाजिक व्यवहारो से उसकी भिन्नता कायम होती है। यही नही कि कलात्मक और साहित्यिक व्यवहार दूसरे मानवीय व्यवहारो से भिन्न होता है, बल्कि कला के मानवीय व्यवहार के क्षेत्र के भीतर भी विभिन्न कला रूपो का रचनात्मक व्यवहार एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी कई स्तरो पर एक दूसरे से भिन्न भी होता है। अत आलोचना के लिए कलात्मक और साहित्यिक व्यवहार की विशिष्ट प्रकृति की पहचान जरूरी है।

कला सम्बन्धी मानवीय व्यवहार की विशिष्टता और जटिलताओ को समझने के लिए हम कलात्मक व्यवहार के एक पक्ष—माध्यम—पर विचार करना चाहते है, जिसकी कलात्मक व्यवहार मे महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। माध्यम, या व्यापक अर्थ म भाषा, साहित्य और कला का एक महत्त्वपूर्ण तत्व है। विभिन्न कलाओ मे माध्यम के अलग अलग रूप होते हैं। माध्यमो के अपने स्वरूप का प्रभाव और परिणाम विशिष्ट कलात्मक व्यवहार पर पडता है। माध्यम सम्बन्धी इस जटिलता को हम साहित्य और कला की रचना और अनुभव के सन्दर्भ मे देख सकते है।

साहित्य का माध्यम है भाषा, जो अनिवार्यत सामाजिक होती है और इसका दूसरे मानवीय व्यवहारो से गहरा सम्बन्ध होता है। भाषा मानवीय व्यवहारो की प्रक्रिया से ही विकसित होती है इसलिए सामाजिकता इसका सहज गुण है। दूसरी कलाओ के माध्यम के साथ ठीक यही स्थिति नहीं है। सगीत, चित्र, मूर्तिकला और वास्तुकला के माध्यम सहज ही सामाजिक नहीं होते। इन कलाओ मे माध्यम के प्रयोग की परपरा सामाजिक होती है, स्वय माध्यम सामाजिक नही होता। इसलिए हर कलाकार को अपनी रचना प्रक्रिया के दौरान अपने कला माध्यम को अधिकाधिक सामाजिक बनाने की समस्या से जूझना पडता है। माध्यम के साथ साथ प्रयोजन के कारण भी सामाजिकता मे अन्तर आता है। माध्यमो के विशेष स्वभाव के कारण ही चित्रकला और सगीत मे रूपवाद की जितनी सभावना होती है उतनी साहित्य मे नही। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि कला के अधिकाश रूपवादी आन्दोलन चित्रकला और सगीत से ही शुरू हुए है। मूर्तिकला और वास्तुकला मे प्रयोजन बहुत सीमा तक माध्यम की सामाजिकता को निर्धारित करता है। 'कला के लिए कला' की साधना की जितनी गुजाइश सगीत और चित्रकला म होती है उतनी मूर्ति और वास्तुकला म नही। एक प्रकार से यह गुजाइश सगीत म सबसे अधिक और वास्तुकला मे सबसे कम होती है क्योकि वास्तु कला का उपयोगितावादी मूल्य उसके कलात्मक मूल्य को अनुशासित करता है, जबकि सगीत मे कलात्मक मूल्य चेतना सर्वोपरि होती है।

रचना प्रक्रिया के दौरान भाषा या माध्यम की समस्या स कलाकार के सघर्ष पर विचार किया जाय तो जाहिर होगा कि सगीत और चित्रकला के सर्जक की समस्या भाषा या माध्यम को सामाजिक बनाने की होती है, जबकि साहित्य मे माध्यम भाषा की सहज सामाजिकता के कारण साहित्यकार की समस्या भाषा को निजी बनाकर सामाजिक बनाने की होती है। सगीत या चित्र कला का सर्जक अपने कला माध्यम को अधिकाधिक सामाजिक बनाकर अपनी सर्जनात्मकता की अभिव्यक्ति करता है लेकिन कविता कहानी या उपन्यास म

रचनाकार प्रचलित भाषा को निजी बनाते हुए रचनात्मक स्तर पर उसकी सामाजिकता की वृद्धि करता है। रचना के स्तर पर माध्यम की इस स्थिति पर विचार करने से यह जाहिर हो जाता है कि आलोचना में माध्यम के सवाल की उपेक्षा ठीक नहीं है।

साहित्य रचना को मानवीय व्यवहार मानने के बाद यह जरूरी हो जाता है कि साहित्यिक रचनात्मक व्यवहार के क्षेत्र के भीतर के विभिन्न व्यवहारों के रूपों की विशिष्टता को भी पहचाना और स्वीकार किया जाय। हम एक कुम्हार की निर्माण प्रक्रिया और प्रयोजन को वैसे ही नहीं समझ सकते, जैसे एक बढ़ई की निर्माण प्रक्रिया को। यही स्थिति साहित्यिक व्यवहार के क्षेत्र में भी है। हम कविता और कहानी की निर्माण प्रक्रिया में अन्तर समझते हुए, दोनों की विशिष्टताओं को पहचानते हुए, उनकी आलोचना करनी चाहिए। माना कि कविता और कहानी के मूल उपादान (जीवनानुभव), माध्यम (भाषा) और प्रयोजन (पाठकीय चेतना का बदलाव) के बीच सामान्य एकता होती है, लेकिन दोनों की रचना प्रक्रियाएं एक दूसरे से भिन्न होती हैं। इसलिए रचना के दौरान रचनाकारों का रचनात्मक संघर्ष भी एक जैसा नहीं होता। जब आलोचक हर प्रकार की रचनाओं में से कुछ सामान्यताओं की खोज करने लगते हैं तो वे रचनाओं की विशिष्टता की उपेक्षा करते हैं।

आलोचना में रचना के रूप (साहित्य-रूप और कलात्मक रूप) पर ध्यान देना बहुत जरूरी है। रूपवाद के आतंक से भयभीत होकर रूप की चर्चा से बचना रचना और आलोचना दोनों के लिए हानिकर हो सकता है। जो लोग रचना के विशिष्ट रूप और उसके बोध की विशेष पद्धति की उपेक्षा करके केवल हर जगह अमूर्त सामाजिक सत्य की खोज करते रहते हैं उनसे मार्क्स का कहना है कि "आप वस्तु (कला वस्तु) और चेतना (पाठकीय चेतना) के अधिकारों का हनन कर रहे है, आप सत्य को अमूर्त समझ रहे है और उस मजिस्ट्रेट की तरह व्यवहार कर रहे है जो बिना किसी लगाव के हर मुकद्दमे के बयान और पैरवी को सुनता और लिखता है।'

यह ठीक है कि रचनाकार अपनी रचना में सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करता है, लेकिन रचनाकार उस सामाजिक सत्य को पाने और व्यक्त करने के लिए जीवनानुभव, यथार्थ-बोध, रचना प्रक्रिया और अभिव्यक्ति के स्तर पर जो प्रयत्न और संघर्ष करता है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। रचना में व्यक्त सामाजिक सत्य का जितना महत्त्व है उतना ही महत्त्व उस सत्य की खोज और अभिव्यक्ति के लिए किए गए रचनात्मक संघर्ष का भी है। जब आलोचक रचनाकार के आलोचनात्मक संघर्ष या सामाजिक सत्य की खोज और अभिव्यक्ति के लिए की गई रचनात्मक यात्रा की उपेक्षा करके केवल उपलब्ध सत्य

को ही महत्त्व देता है, तो वह रचना और रचनाकार के साथ न्याय नहीं करता। रचनाकार की सामाजिक सत्य की उपलब्धि के लिए की गयी यात्रा और रचना में उसकी अभिव्यक्ति की विशिष्टता के विश्लेषण से ही आलोचक सामाजिक सत्य पा सकता है। सामाजिक सत्य रचना में निहित होता है, केवल व्यक्त ही नहीं होता। रचना में व्यक्त सामाजिक सत्य पानी में सूखे काठ की तरह उतराया नहीं फिरता कि आलोचना का जाल डालकर उस घट से छान लिया जाय।

आलोचना में रचना के रूप, उसकी विशिष्टता, वस्तुनिष्ठता और रचनाकार के रचनात्मक संघर्ष पर ध्यान देना वास्तव में सामाजिक सत्य की खोज की प्रक्रिया और अभिव्यक्ति की प्रणाली पर ध्यान देना है। रचना के रूप की विशिष्टता पर ध्यान देना गलत नहीं है, रूप को ही सत्य मान लेना या रूप में ही सत्य की खोज करना रूपवाद का शिकार होना है। मार्क्स एंगेल्स ने साहित्य और कला की जो चर्चा की है, उसकी एक बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने रचनाओं को समग्र वस्तु के रूप में देखा है रचनाओं और रचनाकारों की विशिष्टता का विवेचन किया है और इन सबके बाद रचनाओं से सामाजिक सत्य पाने का प्रयत्न किया है। उन्होंने कृतियों का विवेचन करते हुए ही कला और साहित्य संबंधी विभिन्न धारणाओं के विकास का प्रयत्न किया है।

रचना की ऐतिहासिकता और रचनाकार की विचारधारा रचना की अंतर्वस्तु में ही सीमित नहीं होती, रचना के रूप में भी उस ऐतिहासिकता और विचारधारा की अभिव्यक्ति होती है। रचना की अंतर्वस्तु का विश्लेषण करते हुए उसकी ऐतिहासिकता और विचारधारा को खोज निकालना जितना सरल है, उतना सरल कलात्मक रूप की विचारधारा का विश्लेषण करना नहीं है। रचना की संरचना अपने समय की सामाजिक संरचना से प्रभावित होती है और उसको अभिव्यक्त भी करती है। रचना के रूप और शिल्प में न केवल लेखक का व्यक्तित्व प्रकट होता है, बल्कि यथार्थ के प्रति उसका दृष्टिकोण भी प्रकट होता है। साहित्य परंपरा में रूप और शिल्प संबंधी परिवर्तन, सामाजिक परिवर्तन के सूचक और परिणाम होते हैं। ऐसी स्थिति में रचना का विश्लेषण और मूल्यांकन करते समय उसके रूप और शिल्प की उपेक्षा करना रचना और उसके सामाजिक संबंध के कई स्तरों की उपेक्षा करना है।

रचना के स्तर पर सामाजिक सत्य जहां एक ओर सामाजिक अनुभव का सत्य होता है, वहां वह रचनाकार का अपना अनुभूत सामाजिक सत्य भी होता है इसलिए उसमें सामाजिक सामान्यता के साथ साथ रचनाकार की निजता भी व्यक्त होती है। फिर रचनाकार अभिव्यक्ति के स्तर पर मूर्त्त, इंद्रियसंवेद्य बिंबों, प्रतीकों, आख्यान या जीवन के क्रिया व्यापार के माध्यम से सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करता है। सामान्य तौर पर एक युग का सामाजिक सत्य सबका

होता है, लेकिन एक रचनाकार जब उस सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करता है तो वह उसकी विश्व-दृष्टि से जुड़कर उसका निजी भी हो जाता है। रचना का सामाजिक सत्य अपनी विशिष्टता के कारण ही महत्त्वपूर्ण होता है। सामाजिक सत्य के सार्वजनिक रूप और किसी रचना में उसके व्यक्त रूप में संवादिता आवश्यक होती है और रचना की सामाजिक सार्थकता बहुत कुछ इस संवादिता पर ही निर्भर होती है।

कला और साहित्य के माध्यम से सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति और उपलब्धि की प्रक्रियाएं सामाजिक विज्ञानों में भिन्न होती हैं। कला और साहित्य के माध्यम से व्यक्त और प्राप्त सामाजिक सत्य मूर्त्त, जीवंत, अनुभवजन्य और संवेदनीय होता है, इसलिए वह अधिक प्रभावकारी भी होता है। रचना में व्यक्त सामाजिक सत्य की विशिष्टता और सामाजिकता का विश्लेषण करना आलोचक का दायित्व है। इस विश्लेषण के दौरान ही वह एक प्रकार के सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करने वाले अनेक रचनाकारों की रचनाओं की विशिष्टताओं की पहचान करा पाता है या एक रचनाकार की अनेक रचनाओं की विशिष्टताओं का बोध करा पाता है।

बहुत संभव है कि एक ही काल के दो महत्त्वपूर्ण रचनाकारों की रचनाओं में एक व्यापक सामाजिक सत्य अलग अलग ढंग से व्यक्त हुआ हो। यह भी संभव है कि एक रचनाकार की रचनाओं में सामाजिक सत्य का एक रूप प्रकट हुआ हो और दूसरे रचनाकार की रचनाओं में दूसरा रूप। सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति का यह अंतर अलग-अलग साहित्य रूपों में भी दिखायी पड़ सकता है। यह भी संभव है कि एक ही रचनाकार की अनेक रचनाओं में एक व्यापक सामाजिक सत्य के अनेक पक्ष अलग-अलग व्यक्त हुए हों। आलोचक का दायित्व है कि वह प्रत्येक रचना में व्यक्त सामाजिक सत्य के विशिष्ट रूप की पहचान कराये।

प्रेमचन्द की रचनाओं में अपने समय के सामंतवाद और साम्राज्यवाद द्वारा भारतीय जनता के शोषण तथा गुलामी से मुक्ति के लिए सामंतवाद और साम्राज्यवाद के खिलाफ जनता के संघर्ष का प्रामाणिक चित्रण हुआ है। प्रेमचन्द की विभिन्न रचनाओं में सामंती और साम्राज्यवादी शोषण की प्रक्रिया, जनता के जीवन संघर्ष और मुक्ति संघर्ष की प्रक्रिया का जीवंत अंकन हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रेमचन्द की रचनाओं में अपने समय की सामाजिक राजनीतिक वास्तविकता की जटिल समग्रता की अभिव्यक्ति हुई है। यही उस समय का व्यापक सामाजिक सत्य भी है। लेकिन प्रेमचन्द की विभिन्न रचनाओं में यह व्यापक सामाजिक-राजनीतिक सत्य अलग-अलग ढंगों से व्यक्त हुआ है और हर रचना में व्यक्त सामाजिक सत्य का एक विशिष्ट रूप भी है। यह विशिष्टता

ही प्रत्येक रचना की स्वतंत्र महत्ता का कारण है। सारतः यह सामाजिक राजनीतिक सत्य प्रेमचन्द की सभी रचनाओं की केंद्रीय वस्तु होते हुए भी प्रत्येक रचना में अपने विशिष्ट सामाजिक-राजनीतिक सन्दर्भ और रूप के साथ मौजूद है। इस एक व्यापक सामाजिक राजनीतिक सत्य तक पहुंचने के लिए रचनाकार प्रेमचन्द ने जो रचनात्मक यात्रा की है उस यात्रा का स्वतंत्र महत्त्व है।

जिस समय प्रेमचन्द अपना कथा साहित्य रच रहे थे, लगभग उसी समय हिन्दी कविता में छायावादी आन्दोलन सक्रिय था। प्रेमचन्द की सभी रचनाओं का मूल स्वर सामंतवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी है—और जैसा कि रामविलास शर्मा ने लिखा है, छायावाद का भी मूल स्वर सामन्तवाद विरोधी और साम्राज्यवाद विरोधी है। प्रेमचन्द के कथा साहित्य और छायावाद की कविता के मूल स्वर में एकता होने के बावजूद दोनों के सामन्तवाद विरोध और साम्राज्यवाद विरोध की रचनात्मक अभिव्यक्ति में कितना फर्क है, यह अलग से बताने की जरूरत नहीं है। यह फर्क अलग अलग रचनाकारों की विश्व दृष्टि और कला क्षमता के कारण ही नहीं है, दो साहित्यरूपों (कथा साहित्य और कविता) की अपनी विशिष्टताओं—रचना प्रक्रिया, अभिव्यक्ति प्रणाली और बोध प्रक्रिया—के कारण भी है।

प्रेमचन्द अपने सामन्तवाद विरोध और साम्राज्यवाद विरोध को, जनता के जीवन संघर्ष और मुक्ति संघर्ष को, सामाजिक राजनैतिक यथार्थ की ऐतिहासिक विकास प्रक्रिया की पूरी जटिलता का विवेचन विश्लेषण करते हुए सामने लाते हैं। वे जीवन व्यवहार में सक्रिय संवेदनशील और विचारशील पात्रों के जीवन-व्यवहार से निर्मित घटनाओं का विशिष्ट संयोजन करके कथा साहित्य के माध्यम से समाज का सम्पूर्ण गतिशील चित्र प्रस्तुत करते हैं और इस प्रक्रिया में वे अपने युग के व्यापक सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। छायावाद के कवि कविता की विशिष्ट प्रकृति के कारण पूरी तरह ऐसा नहीं कर सकते थे। इसलिए वे बिंबों, प्रतीकों, रूपकों और ऐतिहासिक सन्दर्भों के माध्यम से अपने सामन्तवाद विरोध, साम्राज्यवाद विरोध और जनता के जीवन संघर्ष तथा मुक्ति संघर्ष की अभिव्यक्ति करते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रेमचन्द और छायावादी कवि व्यापक रूप में एक तरह से ही सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति करते हैं। लेकिन उस सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति का रूप साहित्य रूप की भिन्नता के कारण एक जैसा नहीं है और उसका प्रभाव भी एक जैसा नहीं पड़ता। प्रेमचन्द के कथा साहित्य और छायावाद की कविता में व्यक्त सामाजिक सत्य के विशिष्ट रूप को समझने के लिए और बहुत सारी चीजों के साथ-साथ कथा-साहित्य और कविता की

प्रकृति के अन्तर को भी समझना जरूरी है। कविता और कथा साहित्य मे सामाजिक सत्य की अभिव्यक्ति के फर्क और कविता तथा कथा साहित्य की रचनाशीलता की प्रकृति के फर्क को ठीक से न समझ पाने के कारण ही बहुत दिनो तक छायावादी कविता को अयथार्थ और पलायन की कविता कहा जाता रहा, और प्रेमचन्द के कथा साहित्य को कला की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी का कथा-साहित्य घोषित किया गया। हिंदी के प्रगतिशील आलोचको ने छायावादी कविता म व्यजित यथार्थ तत्त्व को खोजने और प्रेमचन्द के कथा साहित्य की कलात्मक श्रेष्ठता सिद्ध करने का आवश्यक काम किया।

इस लेख मे साहित्य रूपो की विशिष्टता पर ध्यान देने का उद्देश्य साहित्य रूपो की विशुद्धता की वकालत करना नही है। विशुद्ध साहित्य की धारणा की तरह साहित्य रूपो की शुद्धता की धारणा भी भ्रामक है। साहित्य रूपो की ऐतिहासिकता और समाज सापेक्षता की उपेक्षा करके उनकी विशिष्टता को भी समझना मुश्किल ही है।

साहित्य रूपो के विशिष्ट स्वरूप की ओर रचनाकारो और आलोचको का ध्यान खीचने का उद्देश्य यह बताना है कि साहित्य रूप की सीमायें रचनाशीलता को बाधने वाली बेडिया नही हैं, और सभावनाओ की तलाश करना साहित्य रूपो की व्यवस्था मे अराजकता उत्पन्न करना भी नही है। जो आलोचक कथा साहित्य मे कवि दृष्टि का अभाव या आविर्भाव खोजते हैं, अथवा कविता के प्रतिमानो के आधार पर कथा साहित्य का विश्लेषण मूल्याकन करते हैं, वे कविता और कथा साहित्य दोनो के साथ अन्याय करते हैं। उपन्यास और कहानी की कविता जैसी आलोचना करने की प्रवृत्ति हिंदी मे कथा साहित्य की अच्छी आलोचना के विकास मे बाधक रही है। दूसरी ओर जो लोग कविता, उपन्यास, कहानी और नाटक की निजी स्वरूपगत विशेषताओ की परवाह न कर हर जगह सामाजिक सत्य की अपनी अमूर्त धारणा की केवल पुष्टि या व्यजना खोजते फिरते हैं, वे साहित्य और कला म यथार्थ के बोध और व्यजना के विशिष्ट स्वरूप से अपना अपरिचय जाहिर करते है। वास्तव मे रूपवाद और अरूपवाद से मुक्त आलोचना ही रचना के विशिष्ट रूप म रूपायित सामाजिक सत्य की पहचान करके नई रचनाशीलता के विकास मे सहायक हो सकती हैं।

अनुभूति और सहानुभूति

साहित्य संवेदनशील रचनाकार की जीवन और जगत के प्रति रागात्मक और वैचारिक प्रतिक्रिया का परिणाम है। समाज और प्रकृति से लेखक अनुभव संचित करता है, उस अनुभव को वह सजग और सचेत होकर कलात्मक रूपात्मक अनुभूति में बदलता है और अंत में उस अनुभूति को वह भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की इस संपूर्ण प्रक्रिया में जीवन का बोध और रागात्मक सम्बन्धों की खोज तथा पहचान प्रकट होती है। अनुभव की व्याप्ति इन्द्रियानुभव से लेकर चिन्तन मनन तक है। मनुष्य विचारशील प्राणी है, इसी कारण वह अधिक संवेदनशील और अनुभूतिशील भी है। विचारशीलता के कारण ही अनुभूतिशीलता में व्यापकता और गहराई आती है। अनुभूति के तीन सोपान हैं—(१) संवेदन (२) अनुभव और (३) भावना। भावना में संसर्ग स्मृति, अनुभव और विचार का संयोग होता है। रचनाकार सचेतन अनुभूति तथा शेष सृष्टि के साथ रागात्मक एवं वैचारिक सम्बन्ध व बोध को ही रचना में आधारभूत तत्त्व के रूप में ग्रहण करता है। लेखक की अनुभूति के विस्तार का अर्थ है उसकी चेतना की प्रगति और विस्तार तथा चेतना के विस्तार का अर्थ है आत्म चेतना का लोक जीवन और लोक चेतना से संयुक्त होना। कलाकार की आत्म चेतना और लोक चेतना के द्वन्द्व और समाहार से ही उसकी मानवीय चेतना अधिक गहरी होती है। कला सृजन में रचनाकार का मूल चित्त' जो संस्कार और नवीन अनुभवों का सम्पुंज है और निमित्त जो संस्कार और अनुभवों को कलात्मक स्वरूप प्रदान करता है, दोनों की सक्रियता स्पष्ट होती है। एक रचनाकार के मानस में संस्कार और अनुभव का द्वन्द्व तथा समाहार सतत वर्तमान रहता है और जो लेखक इस तनाव की प्रक्रिया उसके स्वरूप और कारण को मूलतः समझता है वही आत्म-संघर्ष के माध्यम से समाज का संघर्ष और चेतना की व्यंजना में सक्षम होता है। जो कवि अपनी चेतना के तनाव और संघर्ष में संतुलन कायम नहीं रख सकता, वह ही भावुकता का शिकार होता है। भावुकता में भाव प्रतिगामी होते हैं, अनुभूति [illegible] होती है और यथार्थ बोध का अभाव होता है। काव्य रचना में विशेष बौद्धिकता और भावुकता न होती है बौद्धिकता और रागात्मक अनुभूति में परस्पर विरोध नहीं होता। कविता में रागात्मक-संवेदना और सौन्दर्यात्मक भाव' का संयोग

ही उसे शक्ति और गति प्रदान करता है। भावुकता की अधिकता के परिणाम स्वरूप कविता म अनुभूति की अभिव्यक्ति न हाकर अनुभूति का वणन होने लगता है।

कला मानवीय सवेदना की क्रिया है, वह व्यक्ति-चेतना की मवेदन-शीलता की देन है, मानव की मानवीयता को जाग्रत और परिष्कृत करने की क्रिया का परिणाम है। व्यक्ति चेतना अपने सामाजिक क्रियाशील अस्तित्व के अनुरूप बनती है। चेतना मानव के चेतन अस्तित्व और उसके क्रियाशील व्यक्तित्व के अतिरिक्त कुछ भी नही है। इसलिए लेखक सपूण मानव व्यक्तित्व की चेतना के सघपशील विकास की गति और दिशा को पहचानन का प्रयत्न करता है। लेखक समाज मे केवल दशक ही नही, सहभोक्ता भी है, इसलिए दशक का ज्ञान और भोक्ता की सवेदना के सयोग से ही कवि की चेतना निर्मित होती है। कविता की आत्मपरक वस्तुनिष्ठता म ही निर्वैयक्तिकता होती है। कला मानव की जीने की कामना और जीवन मे विश्वास की देन है। कला की रचना की समस्या केवल 'व्यक्ति' की समस्या नही है बल्कि वह 'मानव' की क्रिया है। व्यापक मानवीय रचनाशीलता के सदम मे ही कवि की रचनाशीलता की भी व्याख्या होनी चाहिए। मानव की रचनाशीलता उसकी सामाजिक क्रिया शीलता म व्यक्त होती है, इसलिए कवि की रचनाशीलता का सम्ब ध मानव की सामाजिक क्रियाशीलता स है। कविता रचना ही नही सम्प्रेषण भी है, इस-लिए उसके विश्लेषण की परिधि म सम्पूण मानव व्यक्तित्व या मानव का सामा-जिक व्यक्तित्व भी है। अगर लेखक समाज की सघपशील चेतना का सवाहक और मानव मुक्ति का अग्रदूत है, तो उसे यह जानना चाहिए कि मानव मुक्ति का अथ है समाज म 'मानवीय ससार और 'मानवीय सम्ब धो' की वापसी और स्थापना। यही कारण है कि मानव मुक्ति का प्रश्न वैयक्तिक नही सामाजिक है।

मानवीय अनुभूति और समसामयिक सामाजिक यथाथ के सवेदनशील बोध स सम्पक्त रचना ही साथक होती है। साहित्य मे यथाथवाद सामाजिक जीवन की सतत विकासशीलता मे विश्वास और जनचेतना की सहानुभूतिपूण अभिव्यक्ति से विकसित होता है। समाज के यथाथ के प्रति लेखकों की प्राय चार मन स्थितिया दिखाई देती हैं। एक मन स्थिति वह है जिसमे कलाकार इस जगत को अवास्तविक मानकर किसी सुखद दुनिया की कल्पना करता है और उस काल्पनिक दुनिया मे रहने का प्रयत्न करता है। दूसरी मन स्थिति का कला कार इस जगत को सामान्यत गम्भीरता से नही ग्रहण करता है, बल्कि वह इसके सतही रूप और छिछलेपन पर व्यग्य करता है, हसता है। तीसरी मन स्थिति का कलाकार समाज की विकृतियो और विडम्बनाओ की दुखद अनुभूति से व्याकुल

होता है तथा इसके भीतर ही सोई हुई सच्चाई और अच्छाई की खोज का प्रयत्न करता है। एक चौथी मनःस्थिति ऐसी भी होती है जिसमें कलाकार यथार्थ के स्वरूप का सम्यक बोध प्राप्त कर, समाज की वास्तविकता को पहचानकर, उसे तोड़कर एक नवीन मानवीय समाज की रचना की क्रांतिकारी प्रेरणा देता है। लेखक के इस निर्माणोंमुख ध्वंस में सामाजिक जीवन की विकासशीलता में आस्था निहित होती है। जीवन और यथार्थ के प्रति सुधारवादी, समझौतावादी और क्रांतिकारी—ये तीन दृष्टिकोण सम्भव हैं। समाज के यथार्थ से ऊबने, उसमें डूबने, उसे सहने, उससे समझौता करने और उसे तोड़कर नवीन सृजन की प्रेरणा देने की विभिन्न वैचारिक तथा भावात्मक जीवन दृष्टियों के अनुरूप ही किसी रचनाकार की रचना का स्वरूप निर्मित होता है। जाहिर है कि निराशावादी, समझौतावादी या सुधारवादी लेखक जनता की संघर्षशीलता को कुंठित और दिग्भ्रमित करते हैं। प्रत्येक युग का मानवीय यथार्थ अपने भौतिक परिवेश के साथ बदलता है, इसलिए प्रत्येक युग की संवेदनशीलता और यथार्थ बोध के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है। मानवीय यथार्थ के अंतर्गत केवल मानव का सामाजिक भौतिक अस्तित्व ही नहीं है, बल्कि उसके रागात्मक और वैचारिक सम्बन्ध भी हैं। काव्यालोचन में किसी एक कविता में व्यक्त यथार्थ के रूप, उसकी बोध प्रक्रिया, कवि की चेतना और यथार्थ से उसके सम्बन्ध के स्वरूप की खोज अनिवार्य है। कला की सामाजिकता या प्रयोजनशीलता की मांग केवल मार्क्सवादी आलोचना का आग्रह नहीं है बल्कि वह कला के आधारभूत तत्त्व—जीवनानुभव बोध प्रक्रिया, रचना प्रक्रिया और अभिव्यक्ति के साधनों के स्वरूप में निहित है। कोई लेखक अगर जीवन और जगत् के यथार्थ से हटकर या कटकर अपने अंतर्मन से ही संवाद करने लगे तो उसकी रचना असामाजिक होने के कारण निश्चय ही अर्थहीन होगी।

किसी कलाकृति में व्यक्त अनुभूति की गहराई और व्यापकता का स्वरूप उसमें निहित व्यापक मानवीय महानुभूति के अनुरूप ही निर्मित होता है। रचना में रचनाकार की सहानुभूति की दिशा, गति और शक्ति के अनुरूप ही उसकी महत्ता निर्धारित होनी चाहिए। जनता की संघर्षशील भावना की पहचान और उसमें सहानुभूति की सच्चाई से ही कोई भी कवि युगीन होकर भी युगातीत होता है। कुछ कवि शाश्वत होने और बनने के लोभ में समसामयिक होने से डरते हैं, जबकि वास्तविकता यह है कि कोई भी लेखक गहरे स्तर पर समकालीन होकर ही समकालीन सम्पूर्ण मानवीय चेतना की पहचान के कारण कालजयी सर्जक बन पाता है। कवि की विचारधारा में उसकी सहानुभूति की शक्ति पूर्णतः आक्रांत नहीं होनी लेकिन अगर विचारधारा और सहानुभूति की दिशा एक हो तो महानुभूति गहरी होती है। लेखक की विचारधारा कभी-कभी उसकी

अनुभूति और सहानुभूति की दिशा की खोज मे भी सहायक होती है। मानवीय अनुभूति से सहानुभूति स्थापित करती हुई कवि की भावना अपनी विशिष्टता कायम रखती है और अनुभूति की इस रचनात्मक प्रक्रिया मे ही वह समानुभूति और सहानुभूति के सहारे व्यापक मानवीय अनुभूति की अभिव्यक्ति करने मे सक्षम होती है। यह भी एक तथ्य है कि मानवीय अनुभूति की प्रभावशाली अभिव्यजना के अभाव मे जनवादी विचारधारा के व्याख्यान से भरपूर रचना भी निष्प्राण ही सिद्ध होगी। कोई भी लेखक, 'सकल्पात्मक चिंता' और 'सकल्पात्मक अनुभूति' के सहारे जनता की भावनाओ और आकाक्षाओ स सहानुभूति स्थापित कर पाता है। जनता की भावनाओ से सच्ची सहानुभूति स्थापित करने के लिए कवि का जन जीवन के अनुभवो स गुजरना जरूरी है। सघषशील चेतना का विकास व्यावहारिक जीवन मे होता है, केवल चिन्तन मनन से नही। जिस लेखक को जन-जीवन की वास्तविक सघषमय परिस्थितिया का स्वय अनुभव नही होगा वह केवल काल्पनिक सहानुभूति के सहारे जनता की सघषशीलता, सुख दुख और जीवनस्थितियो की व्यजना का प्रयत्न करेगा। यही कारण है कि सहानुभूति के साथ प्रतिबद्धता का प्रश्न भी जुडा हुआ है। एक प्रतिबद्ध लेखक जन जीवन की वास्तविक परिस्थितियो का सवेदनशील बोध प्राप्त करता है, वह जनता की भावना तथा कामना के साथ सच्ची सहानुभूति स्थापित करता है। विचार को व्यवहार की कसौटी पर कसकर परखता है और जनता की सघषशीलता को आगे बढाने का सचेतन प्रयास करता है। वह अपने लेखन को शोषण और उत्पीडन के खिलाफ जनता की लडाई मे एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करता है। एक क्रातिकारी लेखक सजग और सचेत होकर अपने साहित्य द्वारा जनता मे मुक्ति की कामना, सघष की भावना और कम की प्रेरणा उत्पन्न करता है। सचेतन लेखन और विचार को व्यवहार मे बदलने की तत्परता के कारण ही कोई लेखक क्रातिकारी कहा जा सकता है। विचार व्यावहारिक जीवन के अनुभवो से ही बनते हैं, सामाजिक जीवन की क्रियाशीलता से कटकर केवल अन्तदशन करने मे नही। सच्ची सहानुभूति मे आत्मीयता होती है। उपदेश, दया या करुणा की मुद्रा मे वास्तविक सहानुभूति नही, सहानुभूति का छल होता है।

आधुनिक साहित्य की आलाचना करते समय उसमे व्यक्त सहानुभूति के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है। कविता म व्यक्त जनता की राजनतिक, सामाजिक तथा सास्कृतिक स्थितियो के बोध और अनुभूति के स्वरूप की परख कवि की सहानुभूति की दिशा और स्वरूप के आधार पर हो सकती है। प्राय जनता की राजनीतिक सामाजिक आशा-आकाक्षाओ की अभिव्यक्ति सास्कृतिक भाषा मे होती है। आम जनता की वास्तविक स्थिति के प्रति सजग

और सचेत कवि की सहानुभूति जन सघर्षों और मुक्ति के प्रयासो के साथ होगी। व्यापक मानवीय सहानुभूति के अभाव और जनता की भावनाओ से अपरिचय के कारण ही आज के अनेक कवि आत्मरति मे ही अपने लेखन का आदि अत कर देते है। सहानुभूति आलोचना के लिए भी एक सहायक तत्त्व सिद्ध हो सकती है। आलोचक को रचना की परख के लिए यह जरूरी है कि वह सहानुभूति से रचना का विश्लेषण करे। भवभूति ने 'समानधमा' की जिस आवश्यकता का अनुभव किया था उसम कवि की अनुभूति के साथ पाठक या आलोचक की सहानुभूति की ही माग है। आलोचक एक ओर जब तक कवि की अनुभूति के विषय से और दूसरी ओर कवि की अनुभूति से सहानुभूति स्थापित नही कर पाता, तब तक वह कविता की सही व्याख्या और कवि कम का वास्तविक उदघाटन नही कर सकता। यहा कवि की अनुभूति से सहानुभूति का तात्पय उससे अनिवाय सहमति ही नही है। प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र मे 'सहृदय,' 'रसिक' 'भावक' तथा 'प्रमाता' आदि धारणाओ मे सहानुभूति के तत्त्व की स्वीकृति है। रचनाकार भी जब तक अपनी अनुभूति के विषय से पूण तादात्म्य स्थापित नही कर लेता तब तक उसकी रचना म 'तदाकार परिणति' की सम्भावना उत्पन्न नही होती है। आलोचक मे सहानुभूति होने का अथ है कृति के सम्पूण परिवेश, अन्तस्वरूप अनुभव क्षेत्र, मूल्य दृष्टि और सौन्दय बोध के धरातल तथा रागात्मक बौद्धिक प्रक्रिया की दिशा की खोज का प्रयत्न और कवि मे सहानुभूति का अथ है जन जीवन की विभिन्न स्थितियो तथा भावात्मक स्तरो से आत्मीयता स्थापित करने की शक्ति।

सहानुभूति के दो रूप हो सकते है—रागात्मक और बौद्धिक। जहा कवि जन जीवन के सीधे सम्पक म है जन जीवन स पूणत आत्मीयता अनुभव करता है, वहा रागात्मक सहानुभूति होती है। लेकिन कुछ कवियो की कविता म प्रतिबद्धता या सप्रयोजन लेखन के नाम पर केवल बौद्धिक सहानुभूति ही दिखाई पडती है। पत की 'ग्राम्या' की आत्मस्वीकृति से यह जाहिर है कि ग्रामीण जीवन के प्रति कवि की सहानुभूति बौद्धिक है, रागात्मक नही। तत्कालीन युगीन व्यापक जन जागरण और स्वाधीनता आदोलन म वामपक्षीय राजनीति के उदय के कारण ही पत ग्रामीण जीवन की ओर आकर्षित हुए थे। चूकि पत ने गावो को बाहर और दूर से देखा था, इसलिए उनकी सहानुभूति बौद्धिक ही हो सकती थी। ग्राम्या म बौद्धिक सहानुभूति के कारण ही भाषा का अभिजात्य विद्यमान है जबकि निराला और नागाजुन की कविताओ मे जनता के साथ रागात्मक सहानुभूति होने के कारण उनकी भाषा म लोक-जीवन और लोक भाषा की सादगी, सच्चाई और नवीन रचनाशीलता दिखाई देती है।

शोषित म सहानुभूति का अथ उनकी दयनीयता का चित्रण नहीं, बल्कि उसकी विद्रोह-भावना, सघषशीलता और कम चेतना को शक्ति प्रदान करना है। सच्चा जनकवि उठते हुए जन को उठाने, उसको अपनी स्थिति के प्रति सजग-सचेत होने और शोषण के खिलाफ विद्रोह करने की भावना जगाता है। निराला की 'भिक्षुक' तथा 'वह तोड़ती पत्थर' आदि कविताओ मे सहानुभूति की सच्चाई के कारण ही गहरी प्रभावशीलता है। कभी कभी कविता मे वास्तविक सहानुभूति के बदले काल्पनिक सहानुभूति ही मिलती है। अधिकाश प्रगतिवादी कविताओ के अल्पजीवी होने का कारण उनमे व्यक्त सहानुभूति का काल्पनिक और बौद्धिक होना ही है। कल्पना से अनुभूति की सीमा का विस्तार होता है, किन्तु वास्तविक अनुभूति के आधार पर क्रियाशील कल्पना म ही ऐसा होना है। नागार्जुन की कविताओ मे आम जनता के प्रति जो सहानुभूति है। उसम केवल दया का भाव ही नहीं वल्कि सहभोक्ता की सहानुभूति भी है। कवि मे जन-जीवन से सच्ची सहानुभूति जनता की सघषशीलता की सहधर्मिता और सहकर्मिता स ही उत्पन्न होती है। सहानुभूति लाव वेदना की सवेदना को आत्मीय अनुभूति मे रूपान्तरित करने की प्रक्रिया है। सहानुभूति म सक्रिय सहयोग का भाव छिपा हुआ है।

भारतीय काव्य दशन की परम्परा म सहानुभूति के तत्त्व पर विचार करने पर यह प्रतीत होता है कि साधारणीकरण और सहानुभूति म गहरा सम्बन्ध है। आचाय शुक्ल के अनुसार 'काव्यानुभूति जीवनानुभूति के रूप मे होती है।' जीवनानुभूति म सहानुभूति मानव जीवन की सामाजिकता की देन है। रस-बोध मे भावानुभूति का साधारणीकरण सहानुभूति के कारण ही सम्भव होता है। मानव मन मे भावात्मक सामजस्य, साहचय और एकता स्थापित करने वाली शक्ति ही सहानुभूति है। सहानुभूति अनुभति का केवल एक भेद मात्र नहीं है, बल्कि दो व्यक्तियो की समान अनुभूतियो का एकाकार करने, उनकी भावदशा मे तादात्म्य स्थापित कराने और मानव को अधिक मानवीय बनाने वाली स्वतन्त्र मानसिक शक्ति है। वास्तव मे सहानुभूति ही रस-बोध का मूल कारण है। सहानुभूति मे तद्वत अनुभूति और तदनुभूति का योग होता है। शुक्लजी के अनुसार रसानुभूति के दो प्रकार हैं—(क) 'शील परिज्ञान स उत्पन्न अनुभूति' और (ख) आश्रय के साथ तादात्म्य की दशा। शुक्लजी के ही अनुसार "जहा हमारी भावसत्ता का सामान्य भावसत्ता म लय हो जाता है, वही रस की पुनीत भूमि है।" लेकिन शील परिज्ञान से उत्पन्न भावानुभूति म सहानुभूति की मध्यम दशा होती है। साधारणीकरण के लिए व्यक्तित्व एव आत्मबोध के परिहार की जो शत है उसे मान लेने पर आज की विचार प्रधान कविता का आस्वादन कठिन हो जाएगा। आज की कविता का

लक्ष्य रसानुभूति कराना बहुत कम और विचार सम्प्रेषण अधिक है। रसानुभूति में केवल भाव का ही विस्तार होता है, किन्तु सहानुभूति के कारण भाव और विचार दोनों का विस्तार होता है। नई कविता के आस्वादन के लिए व्यक्तित्व और विषय को अधिक गतिशील तथा क्रियाशील बनाने की जरूरत है। आचार्य शुक्ल ने भाव को रसानुभूति का चरम मानते हुए 'बोध', 'ज्ञान' या 'प्रतीति' को रसानुभूति में सहायक कहा है। आज की कविता में विचार केवल बोध मात्र नहीं है, वह रस-बोध में केवल सहायक भी नहीं है, बल्कि स्वतन्त्र लक्ष्य तत्त्व है। आज की कविता में विचार सम्प्रेषण महत्त्वपूर्ण है और सहानुभूति में विचार और भाव का सहअस्तित्व सम्भव होता है।

साहित्य के नवीन आन्दोलनों में युग की संवेदनशीलता के परिवर्तन के साथ-साथ अनुभूति और सहानुभूति के स्वरूप, स्तर, माध्यम, परिप्रेक्ष्य, केन्द्र और दिशा में भी परिवर्तन होता है। साहित्यिक आन्दोलनों की नवीनता और मौलिकता, अनुभूति और सहानुभूति के स्वरूप और दिशा की नवीनता और गहराई पर निर्भर करती है। द्विवेदी युग से आज तक की हिन्दी कविता में व्यक्त अनुभूति और सहानुभूति की दिशा और नवीनता विचारणीय है। साहित्य में अनुभूति की प्रामाणिकता और विश्वसनीयता सहानुभूति की सच्चाई पर निर्भर है। 'नयी कविता में लघु मानव' और 'सहज मानव' की जो चर्चाएं हुई हैं, उनमें सहानुभूति की नवीन दिशा का ही संकेत है किन्तु सामान्य जन को नए विशेषणों से सुसज्जित करने के बदले उसकी सत्ता की पहचान अधिक जरूरी है। मानव को लघु और सहज बनाने में कवि की महानता की मुद्रा अधिक प्रकट होती है और यथार्थ मानव के सामाजिक अस्तित्व की वास्तविकताओं की पहचान का प्रयास कम।

आज की कविता में आत्म चेतना, आत्म संघर्ष, आत्म ग्रस्तता और आत्म निष्ठता आदि की बहुतायत चर्चा होती है। आत्म चेतना और आत्म संघर्ष से आत्म ग्रस्तता स्वभावतः एकदम भिन्न मन स्थिति है। आत्म चेतना में अपनी चेतना के स्वरूप के बोध के साथ ही उस चेतना के विधायक भौतिक सामाजिक अस्तित्व का भी बोध होता है उसमें आत्म चेतना की सचेत अभिन्नता के साथ ही लोक चेतना की चेतनता भी होती है। आत्म संघर्ष में चेतना और वस्तु संस्कार और अनुभव, सामाजिक अस्तित्व और व्यक्ति चेतना तथा विचार और व्यवहार का द्वन्द्व तनाव और संघर्ष होता है। संघर्षमय जीवन जीने वाले और जनता की संघर्षशील चेतना से सहानुभूति रखने वाले चिंतक कवियों में ही आत्म संघर्ष की स्थिति दिखलाई देती है। जीवन और परिवेश की विषम स्थिति से उत्पन्न अन्तर्मुखी दशाओं से जुड़ी हुई आत्म ग्रस्तता के बावजूद अगर कवि का आत्म संवेदन समाज के व्यापकतर छोर को छूता है तो उसकी

आत्म ग्रस्तता वास्तव म आत्म सघर्ष ही है। अपनी आत्मा की मुक्ति की साधना मे लीन कवियो की आत्म ग्रस्तता मे लोक जीवन के स्पर्श का अभाव होता है या सामाजिक यथार्थ का उलटा प्रतिबिम्ब व्यक्त होता है। जिन्हे 'जगत् गति' की चिन्ता ही नही है वे भले हैं, सुखी हैं और निश्चय ही उनकी चेतना निर्द्वन्द्व है किन्तु किसी सवेदनशील व्यक्ति के लिए शोषण और उत्पीडन से भरपूर वर्तमान समाज की वस्तुस्थिति का प्रत्येक क्षण एक भयानक ट्रैजेडी है। 'नयी कविता' मे मुक्तिबोध एक ऐसे कवि है जिनकी कविता 'अशान्त प्राण' से निकली 'महान मानवीय कथा' है। मुक्तिबोध की कविता म जन जीवन और जनता के मुक्ति सघर्षों से सच्ची सहानुभूति है। उनकी कविता की जडें अपने सामाजिक परिवेश म गहरे स्तर तक व्याप्त हैं। इसलिए आज के मानसिक द्वन्द्व और सामाजिक चेतना को समझने के लिए मुक्तिबोध की कविता को पढा जा सकता है और मुक्तिबोध की कविता को समझने के लिए आज के सम्पूर्ण सामाजिक राजनीतिक, आर्थिक तथा सास्कृतिक परिवेश को ठीक ठीक समझना आवश्यक है। उनकी कविता म अभिव्यक्ति भावो और विचारो की खोज का एक साधन है। उनकी आत्मीय छवि म आम जनता के विभिन्न रूपो की पहचान का प्रयास है। मुक्तिबोध की कविता म भावना और विचारो का बिम्बो प्रतीको और फटेसी मे रूपान्तरण है। उनकी कविता मे फटेसी अभिव्यक्ति का एक साधन है, साध्य नही, जैसा कि कुछ आलोचको को लगता है। फटसी मिथकीय चेतना की देन है और उसका प्रयोग प्राय भाववादी कलाओ मे हुआ है। लेकिन इसका यह तात्पर्य नही कि फटेसी कला का अनिवार्यत भाववादी या प्रतिक्रियावादी तत्त्व है। साहित्य के विभिन्न रूपो की उत्पत्ति का मूल लोक जीवन की सृजनशीलता मे निहित होता है, किसी एक व्यक्ति के आत्मचिंतन मे नही। कला और साहित्य के विभिन्न उपलब्ध रूपो और उपादानो का प्रगतिशील उपयोग सम्भव है, बशर्ते कि रचनाकार की जीवन दृष्टि जनवादी हो। कला के विभिन्न उपादानो और रूपो को केवल इसलिए प्रतिक्रियावादी या भाववादी घोषित नही किया जा सकता कि प्रतिक्रियावादियो और भाववादियो ने उनका उपयोग किया है। एक जनवादी कवि जनता के सास्कृतिक जीवन मे व्याप्त विविध कला रूपो का ही उपयोग नही करता, बल्कि वह मानव समाज द्वारा आज तक के विकसित सभी कलारूपो और अभिव्यक्ति के साधनो का जनवादी उपयोग भी कर सकता है और ऐसा अनेक रचनाकारो ने किया है। मुक्तिबोध की कविता म जो फटेसी का तत्त्व है उसम यथार्थ जीवन का प्रतिबिम्बन है, सामाजिक जीवन के सघर्षों का समूर्तन है, कवि की आन्तरिक द्विधाओ की अभिव्यक्ति है और जनता की आशा आकाक्षाओ का स्वप्न बिम्बो मे रूपान्तरण है। मुक्तिबोध की कला की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उन्होने फटेसी का प्रयोग यथार्थ

वादी वस्तुतत्त्व और क्रातिकारी दृष्टिकोण की व्यजना के लिए किया है। वहा फटेसी का एक नया रूप प्रकट हुआ। फटसी के इस नए रूप म जीवन और जगत का केवल प्रतिबिम्बन ही नही हुआ है, उसका उद्घाटन और उसकी पुनरचना भी हुई है। जो लोग कविता को 'बिम्बात्मक चितन' मानते हैं, वे यह भी जानते हैं कि चितन मे फटेसी का तत्त्व निहित होता है। लेनिन ने चितन म फटेसी की महत्ता और अनिवार्यता को पर्याप्त जोरदार शब्दो म स्थापित किया है—"किसी विशेष वस्तु के बोध या उसके बारे मे धारणा निर्मित करने की मानव मस्तिष्क की प्रक्रिया न तो सरल और तात्कालिक क्रिया जैसी होती है और न निर्जीव प्रतिबिम्बन मात्र ही है, बल्कि यह एक जटिल और वक्र प्रक्रिया है जिसमे जीवन से फटेसी की उडान की सम्भावना निहित होती है, और उसमे भी अधिक अमूर्त धारणाओ और विचारो के फैंटेसी मे ऐसे रूपान्तरण की भी सम्भावना होती है, जिससे व्यक्ति प्राय अनभिज्ञ होता है। अत्यन्त सरल किस्म के सामान्यीकरणो मे या अत्यन्त साधारण विचारो मे भी फैंटेसी का थोडा सा अश जरूर होता है। यहा तक कि विज्ञान मे भी फटेसी की महत्ता को अस्वीकार करना मूर्खता ही होगी।"[1]

मुक्तिबोध की कविता मे फटेसी के प्रयोग को देखकर भूत भूत चिल्लाते हुए डरकर भागने की जरूरत नही है बल्कि जरूरत इस बात की है कि उस फटेसी मे निहित वस्तुतत्त्व का विश्लेपण किया जाय और यह भी देखा जाय कि उस विशिष्ट वस्तुतत्त्व के कारण फटेसी के स्वरूप मे क्या परिवर्तन हुआ है।

साहित्य रचना के सदर्भ म यह भी विचारणीय है कि क्या साहित्य क्रोध और घृणा से भी उत्पन्न होता है? दूसरे शब्दो मे साहित्य सजन के सदर्भ मे क्रोध और घृणा की क्या स्थिति है? एक आलोचक का यहा तक कहना है कि श्रेष्ठ साहित्य सहानुभूति से नही, घृणा या क्रोध से उत्पन्न होता है। विचारणीय यह है कि घृणा या क्रोध से उत्प्रेरित साहित्य का लक्ष्य क्या होगा और ऐसे साहित्य के प्रभाव विश्लेपण म घृणा या क्रोध की सामाजिक सार्थकता क्या होगी? क्या घृणा या क्रोध से उत्प्रेरित साहित्य का लक्ष्य पाठक के मन मे भी घृणा या क्रोध ही जगाना हो सकता है? साहित्यकार जिस व्यवस्था और व्यक्ति के प्रति अपना क्रोध व्यक्त करता है, क्या उस व्यवस्था या व्यक्ति के अतिरिक्त उनसे उत्पीडित जनता उसके समक्ष नही होती? क्या शोषक व्यवस्था के प्रति घृणा और क्रोध की भावना से भरपूर साहित्यकार के मन म शोषिता के प्रति सहानुभूति नही होती? अगर यह मान लिया जाय कि साहित्य क्रोध या घृणा से ही उत्पन्न होता है और उसका लक्ष्य भी पाठक के मन म क्रोध या घृणा ही उत्पन्न करना है तो निश्चय ही ऐसा साहित्य विध्वसात्मक ही होगा, रचनात्मक नही। वास्तव म शोषक व्यवस्था के प्रति कवि के मन म क्रोध और घृणा होने के

साथ ही शोषित जन के प्रति उसके मन में सहानुभूति भी होती है बल्कि उस क्रोध और घृणा से यह सहानुभूति अधिक मूलभूत और गहरी होती है। विषमता और शोषण पर आधारित तथा वर्गों में विभाजित इस व्यवस्था के प्रति सजग कवि के मन में इस व्यवस्था के खिलाफ वास्तविक क्रोध तब तक नहीं उत्पन्न हो सकता जब तक उसके मन में शोषितों के साथ सच्ची सहानुभूति न हो। एक सही जनवादी कवि और शौकिया जनवादी कवि में यही अन्तर है कि पहले के मन में शोषक व्यवस्था के प्रति क्रोध और घृणा के साथ ही शोषितों के प्रति सच्ची सहानुभूति भी होती है और वह शोषितों की संघर्षशीलता और क्रांतिकारिता का समर्थक तथा सहायक भी होता है जबकि दूसरे प्रकार के कवि कभी-कभी हवा के रुख को देखकर और कभी पाँचों सवारों में नाम लिखाने के लिए जनता के सामने शोषण और अन्याय के खिलाफ गला फाड़कर चिल्लाते नजर आते हैं लेकिन पर्दे के पीछे अपने राक्षसी स्वार्थ के कारण शोषक दल की शोभा-यात्रा में भी शामिल हो जाते हैं। तात्पर्य यह कि शौकिया जनवादी कवियों का शोषण के खिलाफ क्रोध उतना ही झूठा होता है जितना शोषितों के प्रति उनका सहानुभूति का भाव। वास्तव में उनकी सहानुभूति शोषकों के साथ ही होती है लेकिन आम जनता को धोखा देने के लिए कभी कभी वे शोषकों के खिलाफ अपने झूठे क्रोध का इजहार करते हैं।

इसी संदर्भ में यह भी विचारणीय है कि केवल क्रोध या घृणा की अभिव्यक्ति का उद्देश्य क्या होगा। अगर क्रोध या घृणा की व्यंजना का लक्ष्य सर्जन की पीड़ा की व्याकुलता से मुक्ति प्राप्त करना या 'आत्मदान की व्याकुलता' हो तब तो बात ही दूसरी है लेकिन अगर उसका लक्ष्य घृणास्पद शोषक-व्यवस्था को समाप्त कर जनवादी व्यवस्था की स्थापना की कामना है तो केवल क्रोध और घृणा से ही काम नहीं बनेगा। ऐसी स्थिति में शोषित जनता के प्रति सक्रिय सहानुभूति स्थापित करने की जरूरत होगी। शोषण, दमन और अन्याय से भरपूर समाज व्यवस्था के प्रत्येक युग में क्रोध और घृणा व्यक्त करने के अवसर कवियों को मिलते ही रहे हैं और संवेदनशील, ईमानदार साहित्यकारों ने क्रोध और घृणा की व्यंजना भी की है, लेकिन इसके बावजूद भी यह व्यवस्था कायम रही है तो निश्चय ही इस प्रकार का क्रोध रचनात्मक और सार्थक कम ही माना जायगा। एंगेल्स ने ठीक ही लिखा है कि 'वह क्रोध जो कवि को जन्म देता है, इन बुराइयों का वर्णन करने में और साथ ही शासक वर्गों के टुकडखोर मेल मिलाप के उन पैगम्बरों पर चोट करने में, जो या तो इन बुराइयों के अस्तित्व से इन्कार करते हैं या उन पर लीपापोती करने की कोशिश में रहते हैं यथा स्थान प्रकट होता है। किन्तु किसी भी विशेष परिस्थिति में क्रोध से कोई चीज प्रमाणित नहीं होती है। यह इस बात से जाहिर है कि अभी तक जितना इति

ह्रास बीत चुका है उसके प्रत्येक युग मे इस प्रकार के क्रोध के लिए सामग्री का कभी कोई अभाव नही रहा।'[2]

इस प्रसग मे एक प्रश्न और विचारणीय है कि किसी समाज व्यवस्था और व्यक्ति के प्रभावशाली चित्रण के प्रेरक भाव के रूप म क्रोध या घृणा और सहानुभूति की स्थिति और सार्थकता क्या है ? जाहिर है कि किसी शोषक व्यवस्था का प्रभावशाली चित्रण वर्णन अगर लेखक करता है तो इसका यह तात्पर्य नही कि उस व्यवस्था के साथ लेखक की सहानुभूति है और पाठका म भी वह उस व्यवस्था के प्रति सहानुभूति ही पैदा करना चाहता है, बल्कि इसके ठीक उल्टा लेखक की सहानुभूति उस व्यवस्था से उत्पीडित जनता के साथ होती है और उस व्यवस्था के खिलाफ उसके मन मे क्रोध या घृणा की ही भावना होती है। वास्तविकता यह है कि शोषक व्यवस्था के खिलाफ क्रोध या घृणा के साथ ही शोषितो के साथ सहानुभूति अनिवार्यत लेखक के मन मे होती है। शोषक व्यवस्था के खिलाफ लेखक के मन का क्रोध या उसकी रचना के दन से उत्पन्न पाठक के मन का क्रोध तब तक सार्थक नही सिद्ध होगा लेखक और पाठक दोना के मन मे शोषक-व्यवस्था को वाली के साथ सक्रिय सहानुभूति नही होगी। अगर कोई या पूजीवादी व्यवस्था की क्रूरताओ का चित्रण करता है तो उसके सा व्यवस्था के खिलाफ जनता के मन की विद्रोह भावना की भी अभि । तोल्स्तोय के उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' तथा हावर्ड फास्ट विद्रोही' मे शोषक सामन्ती समाज का जो प्रभावशाली चित्र जा सकता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि साहित्य प्रभाव की शक्ति के रूप म सहानुभूति की स्थिति अनिवार्य है

सदर्भ

1 लेनिन फिलॉसॉफिकल नोटबुक्स, पृ० 372 73
2 एगेल्स ड्यूहरिंग मतखण्डन, पृ० 250

आलोचना की समकालीनता

हिन्दी आलोचना की वर्तमान दशा से असन्तुष्ट लोगों का अभाव नहीं है। असन्तोष रचनाकारों को है और पाठकों को भी। कभी-कभी कुछ आलोचक भी हिन्दी आलोचना की वर्तमान दशा से असन्तुष्ट दिखाई देते हैं। असन्तोष वास्तविकता के बोध से उत्पन्न होता है और भ्रम में जीने की कामना से भी। असन्तोष जागरूकता का भी लक्षण है और अतिभावुकता का भी। असन्तोष जब वास्तविकता के बोध से उत्पन्न होता है तो विकास की सम्भावना बनती है, लेकिन असन्तोष का स्थायी दर्द एक मानसिक बीमारी है जिसकी दवा 'दर्द का हद से गुजरना' ही है। हिन्दी आलोचना की वर्तमान दशा से असन्तुष्ट लोग दोनों प्रकार के हैं। समकालीन आलोचना की असमर्थता की शिकायत समकालीन रचनाकार करते हैं और सामान्य पाठक भी। जो रचनाकार अपनी रचनात्मक कमजोरियों की आलोचना से वकालत चाहते हैं और उसे न पाकर असन्तुष्ट और दुखी रहते हैं उनकी शिकायत अनुचित और उपेक्षणीय हो सकती है, लेकिन जो रचनाकार आलोचना से सही मूल्यांकन और मार्गदर्शन की आशा करते हैं, उनकी अपेक्षाओं की उपेक्षा आलोचना अपनी सार्थकता की कीमत पर ही कर सकती है।

समकालीन हिन्दी आलोचना को अपनी सार्थकता अर्जित करने और सही दिशा में विकास करने के लिए इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि आलोचना किसके लिए है। आलोचना समकालीन रचनाकारों के लिए है या सामान्य पाठकों के लिए, या दोनों के लिए ? आलोचना को केवल छात्रोपयोगी होना चाहिए या व्यापक जनसमुदाय के लिए भी ? कहीं ऐसा तो नहीं है कि आलोचना केवल दूसरे आलोचकों के लिए लिखी जा रही है। ऐसी आलोचना से रचनात्मक लेखन का कुछ बनने बिगड़ने वाला नहीं है। ऐसी स्थिति में आलोचना की सार्थकता ही खतरे में पड़ जायेगी। यह आलोचना के हित में है कि वह व्यापक जन समुदाय को ध्यान में रखकर विकसित हो, वह व्यापक जन समुदाय की आशाओं, आकांक्षाओं और जीवन उद्देश्यों के अनुरूप विकसित हो। जिन रचनाकारों की रचनाशीलता के केन्द्र में आज के व्यापक जनसमुदाय का जीवन है उनकी रचनाओं से ऐसी आलोचना अनिवार्यतः जुड़ेगी क्योंकि दोनों का केन्द्र एक ही है। अगर हम सामान्य पाठकों और छात्रों के साहित्य विवेक को उनके जीवन विवेक से जोड़ना है और उस जीवन विवेक को शोषण और दमन के

कर रही है। जो लोग राजनीति के क्षेत्र मे यह स्वीकार नही करते कि इस देश की वतमान समाज व्यवस्था का स्वरूप अद्ध साम ती और अद्ध-औपनिवेशिक है वे भी सस्कृति और साहित्य के क्षेत्र की इस सच्चाई को अस्वीकार नही कर सकते कि यहाँ मूल्य के स्तर पर साहित्य और कला म साम ती और पूजीवादी विचारधाराओ का गठजोड मौजूद है। हि दी आलोचना के क्षेत्र मे एक ओर प्राचीन भारतीय सामती आलोचना दृष्टि रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिवाद के सहारे अपना प्रभाव कायम किये हुए है तो दूसरी ओर बुर्जुआ विचारधारा के प्रतिनिधि आलोचक सौ दयवाद, नयी समीक्षा शैली विनान और सरचनावाद आदि पश्चिम के आधुनिक इतिहास विरोधी और रूपवादी साहित्य सिद्धा तो और आलोचना दृष्टियो को हि दी आलोचना मे स्थापित करने की कोशिश कर रहे हैं। पिछले कुछ समय से आधुनिक पश्चिमी रूपवाद और प्राचीन भारतीय रीतिवाद के मेलजोल और एकता के प्रयास भी हो रहे हैं। पश्चिम के पूजीवादी आधुनिक 'विज्ञान' और प्राचीन साम ती 'रीति' को मिलाकर हि दी आलोचना के क्षेत्र मे 'रीति विज्ञान विकसित करने की कोशिश हो रही है। साहित्य और कला के क्षेत्र का रूपवाद वास्तव मे दशन के भाववाद का ही फल है, इसलिए नये पुराने रूपवाद मे एकता आश्चयजनक और असम्भव नही है। क्या समकालीन हि दी आलोचना मे नये पुराने रूप वाद की एकता का राजनैतिक सामाजिक स्तर पर शोषण की वतमान व्यवस्था को कायम रखने के लिए साम ती और पूजीवादी वर्गों की एकता से कोई सम्बध नही है ?

समकालीन हि दी आलोचना मे अगर एक ओर शोषक शासक वर्गों की विचारधारा मौजूद है तो दूसरी ओर उससे सघष करने वाली माक्सवादी आलोचना दृष्टि भी है। हि दी आलोचना मे साहित्य और कला सम्ब धी साम ती और पूजीवादी दृष्टिकोणो के विरुद्ध सघष की एक लम्बी परम्परा है। हि दी म माक्सवादी आलोचना के प्रारम्भ होने के पहले से ही वस्तुवादी आलोचना दृष्टि का विकास होता रहा था जिसने दाशनिक स्तर पर भाववाद और रचना के स्तर पर रूपवाद के प्रभाव का स्पष्ट विरोध किया। माक्सवादी आलोचना दृष्टि न हि दी की वस्तुवादी और प्रगतिशील परम्परा को विकसित किया है और मजबूत बनाया है। सामाजिक राजनतिक स्तर पर शोषक वर्गों के खिलाफ जन सघर्षों को दिशा और गति देने वाली माक्सवादी विचारधारा सास्कृतिक स्तर पर शोषक वर्गों की विचारधारा के खिलाफ निर तर सघष करती हुई आगे बढी है। इस विचारधारात्मक सघष का एक रूप हि दी आलोचना के क्षेत्र मे भी दिखाई देता है। सामाजिक राजनतिक स्तर पर माक्सवादी विचारधारा की शक्ति और सीमा का प्रभाव हि दी आलोचना पर भी पडा है।

खिलाफ जनता के संघर्ष का पक्षधर बनना है तो यह जरूरी है कि उनके सामने साहित्य की ऐसी आलोचना हो जो जनता के मुक्ति संघर्ष के संदर्भ में सार्थक हो। ऐसी आलोचना तभी संभव होगी जब उसे व्यापक सांस्कृतिक प्रक्रिया की आलोचना के रूप में विकसित किया जाय, आलोचना को साहित्य की सीमित दुनिया से निकाल कर उसे व्यापक सामाजिक जीवन के यथार्थ की गतिशील प्रक्रिया से जोड़ा जाय और आलोचना को साहित्य के माध्यम से अपने समय के समाज की आलोचना बनाया जाय।

जीवन्त आलोचना में अपने समय के समाज के विचारधारात्मक संघर्ष की अभिव्यक्ति होती है। आलोचना विचारधारात्मक संघर्ष का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। आलोचना का चरित्र मुख्यतः विचारधारात्मक होता है। आलोचना की विचारधारात्मक अन्तर्वस्तु और आलोचक के विचारधारात्मक दृष्टिकोण से आलोचना का स्वरूप निर्धारित होता है। यही कारण है कि गलत विचारधारा के बावजूद कोई रचनाकार भले ही अपने यथार्थ बोध और रचना कौशल के बल पर सार्थक रचनाकार बन जाय, लेकिन गलत विचारधारा का शिकार आलोचक सार्थक आलोचक नहीं हो सकता। रचना का वर्गीय चरित्र जितना प्रच्छन्न हो सकता है और होता है, आलोचना का वर्गीय चरित्र उतना प्रच्छन्न नहीं होता।

आज की हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय विभिन्न आलोचना दृष्टियों की विचारधारात्मक स्थिति पर विचार किया जाय तो यह देखा जा सकता है कि आलोचना दृष्टियों में भिन्नता और संघर्ष सामाजिक स्तर पर व्याप्त विचारधारात्मक भिन्नता और संघर्ष के अनुरूप है। आलोचना दृष्टियों की भिन्नता और संघर्ष में विचारधारा की महत्त्वपूर्ण भूमिका के प्रति सजग और सचेत आलोचक हैं तो उससे बेखबर लेकिन उसके शिकार आलोचक भी। हिन्दी आलोचना के विचारधारात्मक चरित्र पर विचार करते समय यह भी ध्यान देने योग्य है कि वर्तमान भारतीय समाज व्यवस्था के वर्गीय स्वरूप और उसके विचारधारात्मक संघर्ष की अभिव्यक्ति हिन्दी आलोचना में भी हो रही है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में अब भी सामन्ती आलोचना दृष्टि का प्रभाव है और बुर्जुआ आलोचना दृष्टि भी सक्रिय है। इन दोनों आलोचना दृष्टियों के विरुद्ध संघर्ष करने वाली मार्क्सवादी जनवादी आलोचना दृष्टि भी मौजूद है। हिन्दी आलोचना में अगर इन तीनों आलोचना दृष्टियों का अस्तित्व और संघर्ष है तो उसका कारण यह है कि भारतीय समाज में सामन्ती, पूंजीवादी और जनवादी विचारधाराओं का संघर्ष चल रहा है। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना सामन्ती और पूंजीवादी आलोचना दृष्टियों से संघर्ष करती हुई हिन्दी साहित्य की यथार्थवादी और जनवादी परम्परा को स्थापित और विकसित करने की कोशिश

कर रही है। जो लोग राजनीति के क्षेत्र म यह स्वीकार नही करते कि इस देश की वतमान समाज व्यवस्था का स्वरूप अद्ध सामन्ती और अद्ध-औपनिवेशिक है वे भी सस्कृति और साहित्य के क्षेत्र की इस सच्चाई को अस्वीकार नही कर सकते कि यहाँ मूल्य के स्तर पर साहित्य और कला में सामन्ती और पूजीवादी विचारधाराओ का गठजोड मौजूद है। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे एक ओर प्राचीन भारतीय सामती आलोचना दृष्टि रस, अलकार, रीति, वक्रोक्ति और ध्वनिवाद के सहारे अपना प्रभाव कायम किये हुए है तो दूसरी ओर बुर्जुआ विचारधारा के प्रतिनिधि आलोचक सौन्दयवाद, नयी समीक्षा, शैली विज्ञान और सरचनावाद आदि पश्चिम के आधुनिक इतिहास विरोधी और रूपवादी साहित्य सिद्धान्ता और आलोचना दृष्टियो को हिन्दी आलोचना मे स्थापित करने की कोशिश कर रह हैं। पिछले कुछ समय से आधुनिक पश्चिमी रूपवाद और प्राचीन भारतीय रीतिवाद के मेलजोल और एकता के प्रयास भी हो रह हैं। पश्चिम के पूजीवादी आधुनिक 'विज्ञान' और प्राचीन सामन्ती 'रीति' को मिलाकर हिन्दी आलोचना के क्षेत्र मे 'रीति विज्ञान' विकसित करने की कोशिश हो रही है। साहित्य और कला के क्षेत्र का रूपवाद वास्तव मे दशन के भाववाद का ही फल है, इसलिए नये-पुराने रूपवाद मे एकता आश्चयजनक और असम्भव नही है। क्या समकालीन हिन्दी आलोचना मे नये पुराने रूपवाद की एकता का राजनैतिक सामाजिक स्तर पर शोषण की वतमान व्यवस्था को कायम रखने के लिए सामन्ती और पूजीवादी वर्गों की एकता से कोई सम्बध नही है?

समकालीन हिन्दी आलोचना म अगर एक ओर शोषक शासक वर्गों की विचारधारा मौजूद है तो दूसरी ओर उसमे सघप करने वाली माक्सवादी आलोचना दष्टि भी है। हिन्दी आलोचना मे साहित्य और कला सम्बन्धी सामन्ती और पूजीवादी दृष्टिकोणो के विरुद्ध सघप की एक लम्बी परम्परा है। हिन्दी मे माक्सवादी आलोचना के प्रारम्भ होने के पहले से ही वस्तुवादी आलोचना दृष्टि का विकास होता रहा था जिसने दाशनिक स्तर पर भाववाद और रचना के स्तर पर रूपवाद के प्रभाव का स्पष्ट विरोध किया। माक्सवादी आलोचना दृष्टि ने हिन्दी की वस्तुवादी और प्रगतिशील परम्परा को विकसित किया है और मजबूत बनाया है। सामाजिक राजनतिक स्तर पर शोषक वर्गों के खिलाफ जन सघर्षों को दिशा और गति देन वाली माक्सवादी विचारधारा सास्कृतिक स्तर पर शोषक वर्गों की विचारधारा के खिलाफ निरन्तर सघप करती हुई आगे बढी है। इस विचारधारात्मक सघप का एक रूप हिन्दी आलोचना के क्षेत्र म भी दिखाई दता है। सामाजिक राजनैतिक स्तर पर माक्सवादी विचारधारा की शक्ति और सीमा का प्रभाव हिन्दी आलोचना पर भी पडा है।

जनवादी रचना और आलोचना प्राय अपने समय के समाज मे सक्रिय जनवादी राजनीति की गति और दिशा से प्रभावित होती है। इस देश मे साम्यवादी राजनीति जिस सीमा तक भ्रमो, भटकावो, बिखराव और अवसरवाद का शिकार हुई है उसमे हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना अप्रभावित नही रही है। सशोधनवाद अगर राजनीति मे है तो आलोचना म भी उसका आना अनिवाय है। हिन्दी की समकालीन मार्क्सवादी आलोचना को विशुद्धतावाद और सशोधनवाद के खिलाफ दोहरा सघष करते हुए आगे बढना है। आलोचना के क्षत्र मे पहला यथाथ के बदलते हुए रूप और उससे उत्पन्न रचना की नवीनता को मानने और पहचानने मे इनकार करता है तो दूसरा, मार्क्सवाद को समकालीन बनाने की कोशिश म रूपवाद से समझौता करता है। असल मे आलोचना मे ये दोनो प्रवत्तिया तब आती है जब आलोचक जीवन की वास्तविकता और जन सघष से पूरी तरह मग्न हुआ हो और केवल बुद्धिबल के सहारे अपना आलोचक व्यक्तित्व का प्रभुत्व कायम रखना चाहता हो। हिन्दी की मार्क्सवादी आलोचना के क्षेत्र मे कुछ ऐसे भी लोग सक्रिय हैं जिनकी आलोचना को देखकर लगता है कि साहित्य विवेक न होने पर भी साहित्य की आलोचना हो सकती है। शायद ये यह नही जानते हैं कि अगर आलोचना की साथकता आलोचक की सामाजिक सवेदनशीलता, जीवन विवेक और यथाथ की विकासशील प्रक्रिया के बाध पर निभर होती है तो उसकी प्रामाणिकता आलोचक की कलात्मक सवेदनशीलता, साहित्य विवेक और कृति की विशिष्टता की विश्लेषण क्षमता पर निभर होती है। जैसे केवल मार्क्सवाद के कमोवेश ज्ञान मात्र से कोई अनिवायत महत्त्वपूण जनवादी रचनाकार नही हो सकता, वैसे ही केवल मार्क्सवादी दशन की सामान्य जानकारी स कोई सच्चा मार्क्सवादी आलोचक नही हो सकता। मार्क्सवादी दशन के सामान्य नियमो को रचनाओं और रचनाकारो पर लागू करने वाली आलोचना अप्रामाणिक और अविश्वसनीय हो जाती है। इससे मार्क्सवादी आलोचना की साख घटती है। आज हिन्दी मे ऐसी मार्क्सवादी आलोचना के विकास की जरूरत है जो यथाथ के बदलते हुए रूप को पहचाने, उसमे जुडी हुई रचनाशीलता की गहरी छान बीन करके मूल्यांकन करे, रूपवादी और सौन्दयवादी भ्रमो से सघष करते हुए भी रचना के कलात्मक तथा शास्त्रीय मूल्य की पहचान विकसित कर और सामाजिक राजनीतिक बदलाव के प्रसग म रचना की साथक भूमिका उजागर करे।

रीतिकाल के कुछ रसिक कवियो ने अगर कविता को खेल समझ लिया था तो आजकल के कुछ आलोचक आलोचना को शाब्दिक खिलवाड समझते हैं। ये लोग चाराव सिपाही की तरह आलोचना के अखाड म उतरते हैं दूसरे आलोचको और रचनाकारो को प्रतिद्वन्द्वी समझकर तरह तरह के दाँवपेच स

उन्हें धराशायी करने की कोशिश करते हैं। आलोचना जब पहलवानी हो जाती है तो उसमें 'फेयर एण्ड फाउल' का कोई विचार नहीं रहता। दाव अगर नये और चौंकाने वाले हुए तो विरोधियों की आंखों में धूल झोंककर भी उन्हें परास्त करने का प्रयत्न चल सकता है। आलोचना में ईमानदारी का तकाजा तो यह है कि गलत को गलत और सही को सही साबित किया जाय, केवल फतवे न दिये जाएं। आलोचना में मास्टराना अंदाज में रचनाओं और रचनाकारों को नम्बर देने या पास फेल करने की आदत को आचार्य शुक्ल ने 'असभ्यता' कहा था। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में आज भी ऐसे असभ्यों का अभाव नहीं है। किसी रचना या रचनाकार को एक झटके में खारिज करने से बेहतर है कि रचना अगर बुरी है तो उसे वैसा साबित किया जाय। कोई रचना बुरी है या अच्छी, इस बात का आलोचक को इलहाम नहीं होता, रचना के विश्लेषण से ही इसे साबित किया जा सकता है। वही आलोचना विश्वसनीय होगी जिसमें मूल्य निर्णय के साथ-साथ मूल्य निर्णय का आधार और उसकी प्रक्रिया भी सामने आए। विश्लेषण क्षमता के अभाव में ही इलहामवादी आलोचना पनपती है। जब आलोचना बोध, विश्लेषण, विवेक और विचारशीलता के बदले इलहाम, अतिरंजना, सरलीकरण, चुहलबाजी, लटके, फतवे और जार्गन के सहारे चल रही हो तो उसका अविश्वसनीय और अप्रामाणिक होना स्वाभाविक ही है।

हिन्दी के कुछ आलोचकों का केन्द्रीय दृष्टिकोण यह है कि साहित्य चिन्तन के क्षेत्र में अन्यत्र जो कुछ है या हो रहा है वह सब हमारे यहाँ पहले से ही सुलभ है और जो कुछ हमारे यहां सुलभ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ऐसी अंधभक्ति की मनोदशा में अपनी परंपरा और विदेशी चिन्तन के सार्थक स्वरूप की समझ पूरी तरह गायब हो जाती है। ये परम्पराजीवी आलोचक 'हमारे यहां भी कहा गया है' की बैसाखी के सहारे सारे विचार जगत की यात्रा करके एक साथ ही परम्परावादी और आधुनिक—दोनों बने रहने की कोशिश करते हैं। इनके विपरीत कुछ ऐसे परोपजीवी आलोचक हैं जो पश्चिम के कला और साहित्य सम्बन्धी हर प्रकार के विचार और सिद्धान्त को हिन्दी साहित्य में प्रत्यारोपित करने की कोशिश करते है। ये दोनों ही प्रवृत्तियां नयी नहीं हैं। आचार्य शुक्ल ने इन दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों की आलोचना करते हुए इनके खतरों से बहुत पहले ही सावधान किया था। अपने समय की रचना और आलोचना में दूसरी प्रवृत्ति की प्रधानता को देखकर आचार्य शुक्ल ने कहा था—"आजकल पाश्चात्य वाद—वृक्षों के बहुत से पत्ते—कुछ हरे नोचे हुए, कुछ सूखकर गिरे पाये हुए—यहाँ पारिजात पुष्प की तरह प्रदर्शित किए जाने लगे हैं, जिनसे साहित्य उपवन में बहुत गड़बड़ी दिखाई देने लगी है। इन पत्तों की परख के लिए अपनी आँख खुली रखने और उन पेड़ों की परीक्षा करने की आवश्यकता है जिनके वे पत्ते हैं।'

आचार्य शुक्ल की यह चेतावनी अब भी बहुत काम की है। विचार के क्षेत्र में बिना परख या पहचान के संग्रह और त्याग का काम खतरनाक हो सकता है। आंख मूंदकर सब कुछ स्वीकार करने की उदारता के पीछे कहीं न कहीं अपनी दरिद्रता भी छिपी होती है। पश्चिम के कला और साहित्य सम्बन्धी बुर्जुआ चिन्तन के छूटे छटके विचारों की नवीनता की चकाचौंध से जिनकी आंखें मूंद जाती हैं वे यह देखने में असमर्थ होते हैं कि इन विचारों का पूंजीवादी विचार धारा और वर्गहित से क्या सम्बन्ध है? उन्हें आम खाने से मतलब है, पेड़ गिनने या पेड़ों की परीक्षा करने की क्या जरूरत है? यह ठीक है कि बाहर की ताजी हवा और धूप के लिए अपने घर के दरवाजे और खिड़कियों को खोले रखना चाहिए, लेकिन बराबर यह भी ध्यान रखना चाहिए कि बाहर की हवा आंधी बनकर घर को धूल धक्कड़ से न भर दे।

आलोचना के क्षेत्र में अपनी परम्परा और विदेशी चिन्तन का सार्थक उपयोग किस प्रकार करना चाहिए, यह हम आचार्य शुक्ल से सीख सकते हैं। आचार्य शुक्ल ने भारतीय साहित्य कला और दर्शन की चिन्तन परम्परा का विवेकपूर्ण मूल्यांकन किया था और यूरोपीय साहित्य कला और दर्शन सम्बन्धी नये पुराने चिन्तन की सार्थकता निरर्थकता की सम्यक् समीक्षा करते हुए उन्हें स्वीकार या अस्वीकार किया था। अपने समय के समाज और साहित्य की प्रगति के सन्दर्भ में उपयोगी विचारों को ही उन्होंने अपनाया। आचार्य शुक्ल के लिए यह बात बहुत महत्त्वपूर्ण न थी कि विचार देशी हैं या विदेशी नये हैं या पुराने। उनके सामने अपने समय के समाज और साहित्य की प्रगति का प्रश्न मुख्य था और इस सन्दर्भ में उपयोगी देशी विदेशी, नये पुराने विचारों को स्वीकार करने के लिए वे बराबर तैयार रहते थे। भारतीय और विदेशी नये पुराने साहित्य चिन्तन का सामना आचार्य शुक्ल ने किया था लेकिन उन्होंने अंधश्रद्धा या नवीनता की चकाचौंध में पड़कर किसी बात को कभी स्वीकार नहीं किया था। सवाल यह है कि आज के सन्दर्भ में अपनी परम्परा और विदेशी साहित्य चिन्तन की सार्थकता की पहचान की हमारी कसौटी क्या है? निश्चय ही आज का हमारा समाज, उस समाज में अपनी मुक्ति के लिए संघर्षशील जनता और उससे जुड़ी हुई रचनाशीलता की प्रगति की कसौटी पर कसकर ही हम किसी विचार को स्वीकार कर सकते हैं। हमारे लिए वे ही विचार प्रासंगिक हैं जो शोषण और दमन से मुक्ति के लिए संघर्षशील जनता और उससे जुड़ी रचनाशीलता की प्रगति में सहायक हों। बुद्धि को रुग्ण बनाने वाली या पाखंड का प्रचार करनेवाली विचारधाराएं चाहे वे स्वदेशी हों या विदेशी, नयी हों या पुरानी, हमारे काम की नहीं हैं। जो विचार हमारे वर्तमान समाज और रचनाकर्म की प्रगति के लिए प्रासंगिक नहीं हैं वे हमारे लिए न समकालीन हैं और

न स्वदेशी। हमारे लिए वे ही विचार समकालीन हैं जो शोषण से मुक्ति के लिए सघर्षशील जनता और उससे जुडी रचनाशीलता को आगे बढाने म सहायक हो। जो विचार या विचारधारा समकालीन जनवादी रचनाशीलता के विकास मे सहायक है वही समकालीन है। निश्चय ही ऐसी विचारधारा मार्क्सवाद ही है। लेकिन मार्क्सवादी साहित्य चिंतन मे ऐसे समकालीन और स्वदेशीपन का विकास आवश्यक है जो यहा की जनवादी क्रान्ति और जनवादी साहित्य के विकास के अनुकूल हो। अब आलोचना के क्षेत्र मे बाहरी और भीतरी अप्रासगिक परम्परा और उसके प्रभाव की 'साहित्यिक गुलामी' से मुक्त होना जरूरी है। इसका तात्पर्य यह नही है कि समकालीनता का परम्परा से कोई सम्ब ध नही होता। समकालीनता हवा मे विकसित नही होती। समकालीनता की जडें दूर तक जीवित परम्परा मे फैलकर उससे जीवन रस प्राप्त करती हैं। हमारा आग्रह केवल यह है कि परम्परा समकालीनता के लिए होती है, समकालीनता परम्परा के लिए नही। समकालीनता और परम्परा के साथक सम्ब ध के लिए यह जरूरी है कि समकालीनता की दृष्टि से परम्परा का मूल्याकन किया जाय, न कि परम्परा को सही साबित करने के लिए समकालीनता का अवमूल्यन हो। समकालीनता की कीमत पर परम्परा को प्रतिष्ठित करना जडता का प्रचार करना है। समकालीन रचनाशीलता के विकास और प्रगति के लिए परम्परा का विवेकपूण मूल्याकन जरूरी है, लेकिन परम्परा की लाठी से समकालीन रचनाशीलता को पीटना प्रगतिशीलता नही है। परम्परा का तिरस्कार हानिकर है तो उसकी अधपूजा भी लाभप्रद नही है। कुछ लोग परम्परा का जजीर की तरह इस्तेमाल करते हैं तो कुछ लोग परम्परा को लाठी की तरह भांजते हैं। दोनो तरह के लोग समकालीन रचनाशीलता के विकास मे बाधक बनते हैं।

साथक आलोचना मूलत समकालीन होती है। आलोचना, चाहे वह समाज की हो, इतिहास की या साहित्य की, समकालीन आवश्यकता से उत्पन्न होती है। आलोचना की समकालीनता इस बात स जाहिर होती है कि वह अपने समय के समाज और साहित्य मे कितनी जुडी हुई है। रचना की तरह आलोचना की समकालीनता भी सामाजिक सदभ से ही निर्धारित होती है। अपने समय के सामाजिक सदभ स गहरे स्तर पर जुडी हुई आलोचना भी रचना की तरह ही आने वाले समय मे अपनी साथकता कायम रखती है। जब तक समकालीन आलोचना अपने समय की सामाजिक और साहित्यिक आवश्यकताओ के अनुकूल विकसित नही होती तब तक पुरानी साथक आलोचना प्रासगिक बनी रहती है। सामाजिक परिवतन के साथ-साथ रचना और आलोचना की प्रासगिकता मे भी बदलाव आता है। ध्यान देने की बात यह है कि समाज

मे रचना और आलोचना का यह सम्बन्ध समाज के इतिहास की जीवन्त गति शील प्रक्रिया म दिखाई देता है, राष्ट्रीय सग्रहालयो म नही।

आलोचना की साथकता सच्चे और गहरे अर्थों मे समकालीन होने म ही है। वैसे गहरे स्तर पर समकालीन होकर ही रचना भी कालजयी रचना बनती है। रचना और आलोचना दोनो की स्थायित्व उनकी समकालीनता पर ही निभर है, लेकिन आलोचना की तो साथकता ही उसकी समकालीनता पर निभर होती है। आलोचना की सच्ची समकालीनता ही रचना के भविष्य और आलोचना प्रक्रिया की निरन्तरता की सम्भावना निर्मित करती है। आलोचना की समकालीनता के अनेक पहलू हैं। अतीत की रचनाओ की समकालीन प्रास गिकता की तलाश करना, समकालीन रचनाशीलता और पाठको के साहित्य विवेक मे एकता स्थापित करना, समकालीन रचनाशीलता को समकालीन जीवन और समाज के यथाथ स जोडना, समकालीन साहित्य विवेक और जीवन विवेक को एक दिशा मे मोडना और समकालीन जीवन तथा कम को एकोन्मुख करना, ये आलोचना की समकालीनता के कुछ महत्त्वपूण पहलू हैं। आलोचना की सम कालीनता का अथ तात्कालिकता नही है। आलोचना समकालीन होती है और पुस्तक समीक्षा तात्कालिक। आलोचना की समकालीनता अपने समय के रचना कम की विशिष्टता की पहचान की शक्ति पर निभर होती है। किसी युग की आलोचनात्मक चेतना का स्तर उस युग की सास्कृतिक चेतना और आकाक्षा का द्योतक होता है। आलोचना की समकालीनता अपने समय के समाज के व्यापक आलोचनात्मक चिंतन का एक हिस्सा है। समाज के आलोचनात्मक विवेक और आलोचना के साहित्य विवेक मे गहरा सम्बन्ध होता है। वही आलो चना सच्चे अर्थो म समकालीन होती है जो अपने युग के आलोचनात्मक मानस का प्रतिनिधित्व करती है। स्वाधीनता आदोलन और हिंदी साहित्य के सबध के सदभ म आलोचनात्मक चेतना की साथक भूमिका पर विचार करें तो यह बात स्पष्ट होगी। भारतेन्दु के साहित्य विवेक की विशेषता बतलाते हुए आचाय शुक्ल ने लिखा है कि भारतेन्दु ने जीवन और साहित्य के बीच जो विच्छेद पड रहा था उस दूर किया। उन्होने साहित्य को समाज के विचार क्षेत्र और कम क्षेत्र से जोड दिया। भारतेन्दु अपने समय के आलोचनात्मक मानस के प्रतिनिधि थे। उनकी रचना और आलोचना मे युग की आकाक्षाए व्यक्त हुइ तभी व युग प्रवतक बन सके। स्वय आचाय शुक्ल ने अपनी आलोचना को अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक और सास्कृतिक आकाक्षा के अनुरूप विकसित किया। आचाय शुक्ल की आलोचना पद्धति स आज के आलोचको की आलोचना पद्धति की तुलना करें तो यह विचित्र बात सामने आती है कि जहा आचाय शुक्ल की आलोचना म जगह-जगह समाज और उसके यथाथ के विविध रूप सामने आते

है उनके बारे म आचाय शुक्ल का अपना दृष्टिकोण भी प्रकट होता है, वही एकाध अपवादो को छोडकर, आज के अधिकाश आलोचका की आलोचना से प्राय समकालीन समाज गायब ही रहता है। यहाँ आलोचना म समाज उतना भी नहीं होता, जितना वह आलोच्य रचना म होता है।

आलोचना रचना की तरह ही मनुष्य की एक बुनियादी प्रवृत्ति है। मनुष्य अपनी रचना की आलोचना करत हुए ही नयी रचना की आर बढता है। वह अपनी आलोचना-बुद्धि स अपने कम और रचना की सार्थकता और उपयोगिता की पहचान करता है। मनुष्य की विवेकशीलता इस बात म प्रकट होती है कि वह अपनी ही रचना और अपने कम से अपने को अलग करके भी उनकी आलोचना कर सकता है और इसी प्रक्रिया म उसके कम चितन और रचनाशीलता का निरतर विकास होता है। मनुष्य की यह आलोचना बुद्धि ही उसकी सामाजिक प्रगति और सास्कृतिक सृजनशीलता का एक महत्वपूण कारण है। वह अपनी आलोचना बुद्धि स जीवन जगत का समझन और उस बहतर बनाने के लिए बदलने का प्रयत्न करता है, और इस प्रकार वह सामाजिक विकास की विभिन्न मजिलो को पार करता हुआ निरतर आगे बढता है।

प्रश्न उठना है कि आलोचना के इस बुनियादी स्वभाव और प्रयोजन स साहित्य की आलोचना का क्या सम्बन्ध है? वास्तव म साहित्य मनुष्य की सृजनशीलता का ही एक विशिष्ट रूप है जिसमे उसकी रचनात्मक और आलोचनात्मक क्षमता व्यक्त होती है। साहित्य को जब जीवन की आलोचना कहा जाता है तो उसका तात्पय यही है कि मनुष्य साहित्य के माध्यम से अपने सामाजिक जीवन को समझन और उसको बदलने की कोशिश करता है। प्रत्येक महत्वपूर्ण रचना म साहित्य का यह बुनियादी स्वभाव मौजूद रहता है और इस स्वभाव के कारण ही आलोचना भी रचना होन का दावा कर सकती है। एक दूसरे स्तर पर भी आलोचना यह काम करती है। वह रचनाओ को समझने, उनकी व्याख्या करन और बेहतर रचनाओ के निर्माण के लिए उचित वातावरण निर्मित करन का काम करती है। महत्वपूण आलोचना पाठको म साहित्य विवेक को विकसित करके नयी रचनाशीलता के विकास के लिए वातावरण बनाती है।

रचना का जीवन एक ओर उसकी आतरिक क्षमता पर निभर होता है तो दूसरी ओर वह आलोचना की रचनाशीलता पर भी निभर होता है। साथक आलोचना रचना को नया जीवन देती है, उसकी साथकता की तलाश करती हुई वह रचना को बार-बार जीवित करती है। एक जानी पहचानी बात है कि आचाय शुक्ल ने 'पद्मावत' को नया जीवन दिया। आलोचना रचना की पहचान बताती है, उसकी पहचान विकसित करती है। रचना के पाठकीय अनुभव के सदभ म आलोचना की भूमिका यह है कि वह रचना के भीतर तक जाने के लिए माग

निर्मित करती है। आलोचना पाठक को रचना के भीतर तक पहुंचाकर अलग हो जाती है और पाठक रचना को पुनर्रचित करता हुआ उसका अनुभव करता है। इस प्रक्रिया मे पाठक को अपनी आलोचना बुद्धि के विकास का अवसर मिलता है। लेकिन कभी कभी आलोचना, रचना के अनुभव के समय बराबर पाठक के साथ बनी रहती है। ऐसी आलोचना शायद पाठक की बुद्धि पर विश्वास नही करती इसलिए वह पाठक की बुद्धि के लिए कुछ भी बाकी नही छोडती। ऐसी स्थिति मे खतरा यह है कि अगर आलोचना स्वय भटकी हुई हो तो वह पाठक को भी भटकाती है और पाठक की आलोचना बुद्धि के विकास को अवरुद्ध करती है। आलोचना पाठक और रचना के बीच मध्यस्थता का काम करती है। हिंदी म ऐसी आलोचना का भी अभाव नही है जो रचना के बोध मे पाठक की मदद करने के बदले पहेली बुझाती है। कुछ ऐसे भी आलोचक है जिन की आलाचना मे अर्थशून्य वागाडम्बर और जॉग स की भरमार होती है। ऐसी हवाई आलोचना मे वस्तु विश्लेषण और विचारशीलता के बदले वाग्जाल से काम चलाया जाता है।

आलोचना रचना और पाठक के बीच ही मध्यस्थता नही करती, वह रचना, पाठक और समाज के बीच भी मध्यस्थता का काम करती है। आलोचना का सबध रचना और समाज दोनो स होता है। अपने सामाजिक दायित्व के प्रति सजग आलोचक एक समाजचेता सवेदनशील कलाकार के सामाजिक मानवीय व्यवहार के फल के रूप मे रचना की आलोचना करता है और आलोचना के दौरान रचना और समाज के सम्ब ध को स्पष्ट करता चलता है। अगर केवल रचना की उत्पत्ति पर विचार करत समय या उसका मूल्याकन करत समय ही रचना तो समाज से जोडने का प्रयत्न होता है ता समाज रचना के सदर्भ मे एक सीमा तक बाहरी तत्त्व बन जाता है। किसी रचना मे समाज प्रेरणा और प्रभाव के हाशिया पर ही नही होता, वह रचना के के द्र म भी होता है समाज रचना के विभिन्न तत्त्वो और उनकी सघटना मे होता है, वह रचना के अभिप्राय और प्रभाव म भी होता है। सारत समाज रचना के अस्तित्व और अस्मिता का विधायक होता है। रचना की व्याख्या करत समय लगातार समाज की उपस्थिति का बोध होना चाहिए और इस बोध के लिए आवश्यक है कि आलोचक रचना स अलग खुद भी समाज की वास्तविकता स जुड़ा हो। जो आलोचना केवल रचना के भीतर ही समाज को देखती है और स्वय उस समाज स अपरिचित होती है जिसमे वह रचना पैदा हुई है वह आलोचना अपन सामाजिक दायित्व का ठीक स निवाह नही कर सकती। यही कारण है कि समकालीन समाज के यथार्थ स रचनाकार का ही नही आलोचक का भी गहरा और अटूट सम्बध होना चाहिए। अपन सामाजिक सदर्भ से कटी हुई आलोचना या तो रचना के सामने आत्म

समर्पण करती है या रूपवाद का शिकार होती है। निश्चय ही रचना के सदर्भ मे रचनाकार के व्यक्तिगत रचनात्मक प्रयत्न की बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है, लेकिन उस रचनात्मक प्रयत्न के अनेक सूत्र समाज से जुडे होते हैं। किसी रचना को लेखक के सामाजिक मानवीय व्यवहार के रूप मे देखने के साथ साथ रचनाकार की सृजनशीलता और रचना की विशिष्टता को भी पहचानना जरूरी होता है। रचनाकार की सृजनशील चेतना और उसके रचनाकर्म पर समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया के साथ साथ साहित्य की परपरा का भी प्रभाव पडता है। रचना कर्म रचना-परपरा से भी प्रभावित होता है। किसी रचना को समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया, रचना परपरा और रचनाकार के निजी सृजनात्मक प्रयत्न की देन के रूप मे व्याख्यायित करते हुए उसकी नवीनता और सार्थकता पर विचार होना चाहिए। यही कारण है कि साहित्य और कला की विशिष्टता को समझते हुए समाज से उसके आत्मीय सबध का विश्लेषण करने के लिए समाज को भूमिका या उपसहार की स्थिति मे देखने के बदले रचना की साहित्यिकता और सामाजिकता के बीच के जटिल सबध का विश्लेषण होना चाहिए। आलोचना मे किसी रचना की साहित्यिकता की खोज के लिए उसकी सामाजिकता की उपेक्षा करना ठीक नही है लेकिन रचना की सामाजिकता की खोज के नाम पर उसकी साहित्यिकता के विश्लेषण से बचना आलोचना को अविश्वसनीय बनाना है।

आलोचना को आलोचना के हथियार बनाने के लिए जरूरी है कि उसे सम्पूर्ण सांस्कृतिक प्रक्रिया की आलोचना के रूप मे विकसित किया जाए। साहित्य की आलोचना सामाजिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं से जुडकर ही अपने समय के विचारधारात्मक सघर्ष मे महत्त्वपूर्ण और सक्रिय भूमिका निभा सकती है। यह एक प्रकार से मूलगामी आलोचना का विकास करना है। मूलगामी आलोचना व्यापक राजनैतिक और सांस्कृतिक मूलगामी दृष्टिकोण [illegible] ही [illegible] क्रिया है जिसमे समाज संस्कृति और साहित्य की [illegible] [illegible] को साथ [illegible] वाली विचार प्रक्रिया काम करती है। मूलगामी [illegible] का [illegible] मनुष्य की सृजनशीलता का पूरी [illegible] [illegible] [illegible] से [illegible] है। ऐसी आलोचना मानवीय चेतना की [illegible] [illegible] [illegible], [illegible] और [illegible] वाली विचारधारा के विरुद्ध सघर्ष [illegible] [illegible] [illegible] का [illegible] के [illegible] और भटकावो से मुक्त [illegible] [illegible] [illegible] और सदा क्रान्तिकारी चेतना के विकास मे मदद करती है। केवल साहित्य की [illegible] आंतरिकता के [illegible] मे उलझी और साहित्य को [illegible] के [illegible] के भोगने वाले [illegible] [illegible] लने वाली आलोचना [illegible] [illegible] का साधन हो सकती है

सामाजिक परिवतन का साधन नही बन सकती। मूलगामी आलोचना को समाज के सास्कृतिक, दार्शनिक और नैतिक प्रश्नो—विचारधारात्मक प्रश्ना—से टकराना होगा। कई बार जनता की राजनीतिक, सामाजिक आकाक्षाए सास्कृतिक रूपा मे व्यक्त होती है इसलिए आलोचना को जनता की राजनीतिक आकाक्षाओ को पहचानन और सस्कृति के विभिन्न रूपो मे उनकी अभियक्ति को देखन परखने का प्रयत्न करना होगा। जनता के राजनीतिक सामाजिक सघर्षों की प्रगति और जनवादी सस्कृति तथा साहित्य की प्रगति को एक दूसरे से जोड कर देखने वाली आलोचना ही वतमान दौर के विचारधारात्मक सघष मे अपनी साथक भूमिका निभा सकती है।

लेखक और लोकतन्त्र

मुक्तिबोध की एक कविता मे वतमान भारतीय समाज व्यवस्था और शोषक सत्ता के भयानक सम्भावित स्वरूप का चित्रण दु स्वप्न के रूप म किया गया है। आपातकाल के पहले वतमान शोषक सत्ता के दमनकारी रूप का यह चित्र कुछ लोगो को केवल सपना प्रतीत होता था, लेकिन आपातकाल के दौरान जब यह क्रूर वास्तविकता उनर कर सामने आया तो बहुतो को इसकी सच्चाई का बोध हुआ। 'अधेरे मे' कविता म वतमान व्यवस्था के सम्भावित रूप का जो चित्र है, उससे यह सिद्ध होता है कि वतमान के यथार्थ की गहरी पहचान म ही भविष्य के स्वरूप का और इतिहास की दिशा का स्पष्ट बोध होता है। उस कविता मे 'मृतदल की शोभा यात्रा म अपने 'भीतर के राक्षसी स्वाथ' और 'छिप हुए उद्दश्य' के कारण लेखक और बुद्धिजीवी भी शामिल दिखाई दत हैं। आपातकाल के दौरान कुछ बुद्धिजीवी किराये के विचारो का प्रचार कर रहे थे तो कुछ हतप्रभ होकर मौन की साधना कर रहे थे। कुछ कछुआधर्मी बुद्धिजीवी अपने खोखले म सिमटकर अपने को सुरक्षित समझते हुए तूफान के गुजर जाने का इतजार कर रहे थे। जो लोग आपात्काल के पहले रोज-रोज कहा करते थे कि "अब अभिव्यक्ति के सारे खतर उठान ही होगे," उनमे से कुछ तो विरोध की अभिव्यक्ति स कतराते हुए खतरे से बचने की कोशिश करते रहे और कुछ दूसर इस खतरे को ही वरदान समझकर उसकी अभिव्यक्ति करत रहे। इस दौर म कुछ लोग अभिव्यक्ति के खतरे उठाने को 'रोमैंटिसिज्म' समझ रहे थे और चुप्पी को चालाकी, अब वही लोग अपनी शहादत की वीरगाथा सुनाते दिखाई पडते हैं।

इसका यह तात्पय नही हे कि आपातकाल म दमनकारी सत्ता के विरोध और जनता की पीडा की अभिव्यक्ति करने वालो का एकदम अभाव था। ऐसे समय मे भी शोपक सत्ता के दमनकारी रूप का विरोध वे ही कर रहे थे जो आपात्काल के पहले भी वतमान व्यवस्था क असली स्वरूप को पहचानते थे और शोषित जनता के मुक्ति सघप से सक्रिय सहानुभूति रखते थे। ऐसे लेखकों के लिए आपात्काल के अत के साथ सघप का अत नही हो गया, बल्कि

वह तब तक चलता रहेगा जब तक जनता का मुक्ति संघर्ष चलेगा। आपातकाल के पहले व्यवस्था विरोध की रचनाओं की बाढ़ दिखाई देती थी, व्यवस्था की भयानकता के काल्पनिक रूप के चित्रण से रचनाएँ भरी रहती थीं, लेकिन आपातकाल आते ही, व्यवस्था की असली भयानकता के उपस्थित होते ही ऐसी रचनाओं का स्रोत सूख गया, क्योंकि उन रचनाओं की कल्पना वास्तविकता से टकराकर टूट गयी। असल में शोषक सत्ता की मार लगातार झेलनेवाले और उसके विरुद्ध निरंतर संघर्ष करने वाले सर्वहारा वर्ग से जब तक लेखक एकात्म्य स्थापित नहीं करता तब तक उसके व्यवस्था विरोध में वह शक्ति नहीं आती जो व्यवस्था के भयानक से भयानक दमन को झेलते हुए भी कायम रह सके। जिस तरह निरंतर संघर्ष करती हुई, विजय और पराजय के सुख दुख के अनुभवों को पार करती हुई जनशक्ति कभी नष्ट नहीं होती, उसी तरह जनता से जुड़ी हुई रचनाशीलता जनचरित्री रचनाशीलता दमनकारी सत्ता के आतंक से कभी पराजित नहीं होती।

आपातकाल के दौरान उन लेखकों को कोई कठिनाई नहीं हुई जो शाश्वतता में जीते हैं या जिनकी कविता समाज से नहीं पूर्ववर्ती कविताओं से पैदा होती है। जाहिर है ऐसा कविता उन कविताओं से पैदा नहीं हुई होगी जो समाज से पैदा हुई हों। ऐसे लेखक दुहरे व्यक्तित्व के धनी व्यक्ति होते हैं। वे अपने लेखक को अपने नागरिक से अलग रखने का दावा करते हैं और उनका सर्जक मन उनके भोक्ता मनुष्य से स्वतन्त्र होता है। ऐसे लेखकों को आपातकाल के कारण कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी, उनकी रचनाशीलता को अप्रभावित रहना चाहिए था। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कहा जाता है कि उनका नागरिक उनके लेखक पर हावी हो गया और उनका सर्जक मन उनके भोक्ता मनुष्य के संकेत सुनने लगा। नदी का द्वीप तूफान से अप्रभावित न रह सका। लेकिन उसकी परेशानी वैसी नहीं थी जैसी धारा के साथ होने यानी कि जनता के साथ होने वाला की थी। इस दौर में ऐसे लेखकों को भी कोई कठिनाई नहीं हुई जो यह जानते हैं कि 'जैसी बहे बयार पीठ तब तैसी कीजै'। उन्हें व्यवस्था में लगाव है और व्यवस्था से अपने हितों और स्वार्थों को पूरा करवाने की कला में वे माहिर हैं। ऐसे धुरीहीन लेखक 'गंगा गये तो गंगादास और जमुना गये जमुनादास' बनकर अपना काम निकालते रहते हैं। वे आपातकाल के दौरान भी व्यवस्था के विरोधियों के विरोधी थे और आज भी व्यवस्था के विरोधियों के विरोधी हैं वे तब भी व्यवस्था के ही थे और आज भी व्यवस्था के ही हैं क्योंकि व्यवस्था आज भी मूलतः वही है जो तब थी। ऐसे लोग अब रोज-रोज यह

कसम खाते दिखाई देते हैं कि वे आपात्कालीन सत्ता के मित्र न थे, पर उनकी कथनी और करनी का भेद शब्दजाल में छुप नहीं सकता।

लोकसभा के पिछले चुनाव से यह सिद्ध हो गया कि "जनता निर्जीव नहीं है। वह सदा मूक भी नहीं रहती। देश का भविष्य' नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।" ये शब्द यशपाल के हैं। 'झूठा सच' के दूसरे भाग के अन्त में उन्होंने जनता की शक्ति में यह विश्वास प्रकट किया है। चुनाव के पहले और आपातकाल के दौरान जनता की शक्ति में ऐसा विश्वास प्रकट करने वाले बहुत अधिक नहीं थे। आपात्काल के दौरान और उसके पहले भी संसदीय राजनीति के कलाबाज लोग जनता को केवल भीड़ समझते थे। वे समझते थे कि जनता को फुसलाया जा सकता है, उसे धोखा दिया जा सकता है, उसे आतंकित करके अपने अनुसार हांका जा सकता है। इसी भ्रम में इन्दिरा गांधी ने भी चुनाव की घोषणा की थी, अन्यथा जनता और जनमत का उन्हें कितना ख्याल था, यह उनके लम्बे आतंकपूर्ण और तानाशाही शासन से जाहिर है। जनता मौका मिलते ही तानाशाही शासन व्यवस्था पर चोट करने से न चूकी। आपातकाल के दौरान जिस तानाशाही शासन के आतंक और दमन के राज्य को प्रायः अधिकांश बुद्धिजीवियों ने देश का भाग्य और भविष्य मान लिया था उसको परास्त करके जनता ने अपने राजनीतिक विवेक और अदम्य शक्ति का परिचय दिया। जनचेतना के इस जागरण और आपात्कालीन तानाशाही की पराजय का इस देश की भावी राजनीति पर दूरगामी प्रभाव पड़ेगा। अपनी अपनी राजनीतिक समझ और आकांक्षा के अनुसार इससे तरह तरह के निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं। शोषक-शासक वर्ग को इस बात का सन्तोष है कि संसदीय लोकतन्त्र में जनता की आस्था अब भी बनी हुई है और इस तरह की राजनीति के सहारे जनता का शोषण चल सकता है। जाहिर है शोषक वर्गों के हितों की सुरक्षा करनेवाली राजनीतिक पार्टियों को भी संसदीय राजनीति में जनता की आस्था देखकर सन्तोष ही होगा। भ्रम को मुक्ति का मार्ग समझनेवाली राजनीतिक पार्टियों का भ्रम और अधिक गहरा भी हो सकता है और टूट भी सकता है। जो लोग जनता की क्रान्तिकारी शक्ति में विश्वास रखते हैं, उन्हें जनता की इस अदम्य शक्ति और राजनीतिक चेतना को देखकर जनमुक्ति के प्रयत्नों को अधिक मजबूत करने की प्रेरणा प्राप्त हो सकती है। कुछ लोग पिछले आम चुनाव के बाद के राजनीतिक परिवर्तन को 'दूसरी आजादी' समझ रहे हैं। पहली आजादी के बारे में कुछ लोगों का भ्रम काफी देर से टूटा, लेकिन इस दूसरी आजादी का भ्रम जल्दी ही टूट जायेगा। धीरे धीरे जनता पार्टी और उसके शासन का जनविरोधी असली रूप प्रकट होता जा रहा है।

आपातकाल के बाद के संसदीय चुनाव के कारण तीस वर्षों का काग्रेसी शासन समाप्त हुआ और जनता पार्टी शासन मे आयी। क्या यह कोई बुनियादी परिवर्तन है? निश्चय ही नही। शोषक वर्ग की एक राजनीतिक पार्टी के जाने और दूसरी पार्टी के शासन म आने से शोषक सत्ता के स्वरूप म कोई बुनियादी परिवर्तन नही होता। शासक वर्ग अपने हितो के अनुरूप नई पार्टिया बनाता है ताकि संसदीय राजनीति के सहारे शोषण की राजनीति अधिक कुशलता से चलती रहे और लोकतन्त्र के भ्रम म जनता फसी रहे। शोषक शासन व्यवस्था को कायम रखना और शोषक वर्ग की सुरक्षा करना एक ही बात है।

यह सच है कि लेखको, कलाकारो और बुद्धिजीवियो के लिए लोकतन्त्र तानाशाही स एक बेहतर व्यवस्था है। तानाशाही समर्पण चाहती है। वह असहमति को बर्दाश्त नही कर सकती और बौद्धिकता का समर्पण से कोई मेल नही हो सकता। बुद्धिजीवी वही होगा जिसमे सामाजिक संवेदनशीलता है। समाजिक संवेदनशीलता के कारण वह समाज की बहुसख्यक जनता के दुख दर्द की पहचान और अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार वह शोषण, अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध जनता की आवाज के रूप मे समाज के सामने आता है। यही कारण है कि आज का लेखक, कलाकार या बुद्धिजीवी अपनी मूलगामी चेतना के कारण अमानवीय व्यवस्था के बीच बची हुई मानवीयता का सरक्षक और अमानवीय व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष का सहायक बनता है। तानाशाही की अमानवीय आकाक्षा और लेखको कलाकारो की मानवीय चेतना के बीच कभी कोई मेल नही बैठ सकता। इतिहास इस बात का गवाह है कि अमानवीय तानाशाही व्यवस्था के समर्थन म न कभी कोई महत्त्वपूर्ण रचना हो सकी है और न हो सकती है। भारत मे आपातकाल के दौरान अधेरे के गीत गानेवालो का अभाव न था। भ्रम, भय या लाभ लोभ के कारण अनेक लेखक और कलाकार उसका समर्थन कर रहे थे, लेकिन उस व्यवस्था के समर्थन मे एक भी सार्थक रचना सम्भव न हो सकी। असल मे भय, भ्रम या लाभ लोभ से सचालित लेखन व्यवसाय हो सकता है, रचना नही। रचना के लिए जिस स्वतन्त्रता की आवश्यकता होती है तानाशाही उसकी अनिवार्य दुश्मन है। तानाशाही अपने निर्मित भ्रम को यथार्थ के रूप मे उपस्थित करती है और अपनी ही शर्तों पर अपनी भाषा मे उस यथार्थ की अभिव्यक्ति चाहती है। तानाशाही सच्चाई को छिपाना चाहती है, झूठ को सच के रूप म पेश करती है और लेखक झूठ के भ्रम जाल म से सच की खोज निकालने का प्रयत्न करता है। तानाशाही सच्चाई म डरती है और लेखक सच्चाई से प्रेम करता है, इसलिए तानाशाही और लेखन म अनिवार्य विरोध होता है। एक दूसरे स्तर

पर भी तानाशाही और लेखक का विरोध प्रकट होता है। तानाशाही भाषा को भ्रष्ट करती है, उसकी सामाजिक अर्थवत्ता को नष्ट करती है। वह भाषा और यथार्थ के सम्बन्ध को अविश्वसनीय बनाती है। आपात्काल के दौरान जनता, लोकतन्त्र, समाजवाद, प्रतिबद्धता, प्रगतिशीलता और न्याय जैसे शब्दों का वही अर्थ नहीं रह गया था जो जन जीवन में इनका अर्थ होता है। लेखक भाषा को अधिक प्रामाणिक और विश्वसनीय बनाना चाहता है और प्रामाणिकता तथा विश्वसनीयता का जन्म भाषा और यथार्थ के आत्मीय सम्बन्ध से होता है। वास्तव में तानाशाही को स्वतन्त्र चिंतन से खतरा महसूस होता है, इसलिए वह स्वतन्त्र चिंतन के लिए खतरनाक बन जाती है। यही कारण है कि जब और जहां तानाशाही व्यवस्था आयी है वहां इसकी क्रूरता के शिकार बुद्धिजीवी भी हुए हैं। इटली में ग्राम्शी पर मुकद्दमा चलाते समय मुसोलिनी के एजेण्टों ने कहा था कि 'पिछले बीस वर्षों से क्रियाशील इस दिमाग को अब और अधिक क्रियाशील नहीं रहने देना चाहिए।" वास्तव में तानाशाही दिमागी गुलामी चाहती है, वह चिंतन की स्वतन्त्रता को बर्दाश्त नहीं कर सकती।

आपातकालीन तानाशाही के बाद हम जिस लोकतन्त्र में जी रहे हैं वह पूंजीवादी लोकतन्त्र ही है, और पूंजीवादी लोकतन्त्र तानाशाही की प्रवृत्तियों से मुक्त नहीं होता। वर्ग शासन का एक रूप आपातकालीन तानाशाही के समय सामने आया था और वर्तमान लोकतन्त्र उसी वर्ग शासन का दूसरा रूप है। वर्ग समाज और उसका शासन तन्त्र मूलतः दमनकारी होता है और उसका लक्ष्य है शोषक वर्ग की सत्ता को कायम रखना। शोषण पर आधारित समाज व्यवस्था को कायम रखने के लिए शासकवर्ग दो तरीकों से काम करता है। एक तो वह विचारधारात्मक सहमति प्राप्त करने की कोशिश करता है और दूसरे बल प्रयोग का सहारा लेता है। शासक-वर्ग अनेक प्रकार के विचारधारात्मक प्रयत्नों की सहायता से अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए अपनी समाज-व्यवस्था के सच को सार्वभौम सच के रूप में पेश करता है और जनता की स्वीकृति तथा सहमति प्राप्त करने का प्रयास करता है। वह स्वतन्त्रता, समानता और बंधुता के भ्रम पैदा करके जनता की चेतना को भ्रमित करता है, उसके असंतोष को कम करने की कोशिश करता है। वर्ग शासन-व्यवस्था जनता की राजनीतिक आकांक्षा और सांस्कृतिक चेतना को तोड़ती-मरोड़ती है और इस काम में शासक-वर्ग के आवयविक बुद्धिजीवी उसकी मदद करते हैं। पेशेवर बुद्धिजीवी अपनी वर्गस्थिति के अनुसार ही उसका समर्थन करते हैं। इस प्रकार जनता की चेतना को भावों से अपने अनुरूप ढालने की कोशिश चलती है और शासक-वर्ग का विचारधारात्मक प्रभुत्व कायम रहता है। इस विचारधारात्मक प्रभुत्व से उसकी सत्ता को शक्ति और स्थायित्व प्राप्त होता है।

लेकिन जब शासक-वर्ग जनता से विचारधारात्मक सहमति और स्वीकृति प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तो वह अपनी सत्ता बचाये रखने के लिए बल प्रयोग का सहारा लेता है। तभी शासक-वर्ग और उसकी राजसत्ता का असली दमनकारी रूप सामने आता है। ऐसी स्थिति में लोकतन्त्र की पवित्र पोशाक अनावश्यक हो जाती है और शासक-वर्ग उसे उतार फेंकता है।

तानाशाही की तुलना में लोकतन्त्र में लेखक का सम्बन्ध अधिक जटिल होता है। तानाशाही के क्रूर और भौंडे तरीकों को पहचानने में लेखक को विशेष दिक्कत नहीं होती। वहां खतरा अधिक ठोस होता है तो पक्ष या विपक्ष में जाने का निर्णय भी स्पष्ट और तत्काल करना पड़ता है। लोकतन्त्र लेखक को धीरे-धीरे और अनेक अमूर्त तरीकों से प्रभावित करते हुए अपने पक्ष में करता है, इसलिए वर्ग समाज के लोकतन्त्र में लेखक का राजनीतिक सामाजिक दृष्टिकोण ही उसके विकल्प को तय करने में उसकी मदद करता है। ऐसे लोकतन्त्र में सत्ता के साथ सहमति और समर्पण का सम्बन्ध कायम करनेवाले लेखकों का विवेक पीड़ित नहीं होता, उनको किसी आन्तरिक बेचैनी में जीने की जरूरत नहीं होती, क्योंकि उन्हें अपनी स्थिति का औचित्य सिद्ध करने के लिए तरह तरह के तर्क मिल जाते हैं। ऐसे लोकतन्त्र में वर्तमान की वास्तविकता के बदले अतीत या भविष्य के कल्पनालोक की चिन्ता में डूबे रहनेवाले लेखकों से व्यवस्था को कोई परेशानी नहीं होती। कुछ लेखक वर्तमान को रहस्यमय बनाते हुए जनता के यथार्थ बोध को धुंधला करने की कोशिश करते हैं और वे प्रकारान्तर से शोषक व्यवस्था की मदद ही करते हैं। व्यवस्था ऐसे मूढ़ों की भी चिन्ता नहीं करती जिन्हें जगत-गति व्यापती ही नहीं। जो लेखक समाज की वास्तविकता की आलोचना के नाम पर हर चीज की बुराई करते हैं वे एक प्रकार का अवसरवाद फैलाते हैं और व्यवस्था की मदद करते हैं, क्योंकि वे बेहतर भविष्य में जनता की आस्था को तोड़ते हैं। ऐसे निम्न पूंजीवादी मनोवृत्ति के लेखकों की साहित्यिक आकांक्षा उनकी राजनीतिक आकांक्षा से आगे नहीं जाती। वे दोनों क्षेत्रों में अपने वर्तमान को ही सुरक्षित रखना चाहते हैं क्योंकि भविष्य से उन्हें भय होता है। वर्तमान समाज-व्यवस्था और जनता की समान रूप से आलोचना करनेवाले ये लेखक वास्तव में व्यवस्था को अधिक कुशल और पूर्ण देखना चाहते हैं ताकि जनता व्यवस्था के विरोध में गतिशील न हो सके। जो लोग साहित्य का व्यवसाय करते हैं और उसे केवल बाजार की वस्तु बनाते हैं वे लेखक ही नहीं हैं, इसलिए लेखक के रूप में उनकी समस्या विचारणीय नहीं है। जो लोग साहित्य के नाम पर मानसिक उपयोग की कहानी या कविता लिखकर अपनी तरह-तरह की कुण्ठाओं को प्रकट करते हैं वे भी इस व्यवस्था के सहायक ही हैं क्योंकि वे

भीतरी सेंसरों से लड़ना पड़ता है और कभी-कभी तो उसे दोनों से एकसाथ संघर्ष करना होता है। इस संदर्भ में एक और बात ध्यान देने की है। पूंजीवादी समाज में हर दूसरी चीज की तरह रचना भी बाजार की वस्तु बनती है, जहां उसे उत्पादन, वितरण और उपभोग की प्रक्रिया से गुजरना पड़ता है। लेखक एक ऐसे पाठक वर्ग के लिए लिखता है जिसे वह नहीं जानता। लेखक और पाठक के बीच अनेक मध्यवर्ती तत्त्व आ जाते हैं। लेखक और पाठक के सम्बन्ध अनेक दूसरे प्रकार के तत्त्वों से प्रभावित—निर्धारित होते हैं। इस प्रक्रिया में भी लेखक की स्वतन्त्रता सीमित होती जाती है। पूंजीवादी लोकतन्त्र में लेखक अपनी स्वतन्त्रता को सीमित करने वाले अनेक प्रकार के दबावों से मुक्त होने के लिए भी उस वर्ग से जुड़ने की कोशिश करता है जो वर्ग व्यवस्था को समाप्त करने के लिए संघर्षशील है। सर्वहारा वर्ग से जुड़कर ही कोई लेखक पूंजीवादी समाज के प्रभावों से बच सकता है। इस संदर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि इन प्रभावों और दबावों से मुक्त होने की प्रक्रिया केवल वैचारिक प्रक्रिया तक सीमित रहने से पूरी नहीं होती उसे जीवन व्यवहार और राजनीतिक कर्म तक ले जाना आवश्यक है।

विकसित पूंजीवादी देशों में व्यक्ति स्वातन्त्र्य को महत्त्व ही नहीं दिया जाता उसे बढ़ावा भी मिलता है लेकिन व्यक्ति स्वातन्त्र्य यहां भी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के रूप में ही विकसित होती है। पूंजीवादी समाज सामूहिक स्वतन्त्रता की चेतना के विकास को रोकने के लिए ही व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को आस्था की चीज के रूप में प्रचारित करता है। व्यक्तिवाद से बुर्जुआ व्यवस्था को सुरक्षा प्राप्त होती है और सामूहिक स्वतन्त्रता की भावना के विकास से बुर्जुआ व्यवस्था अरक्षित होती है। भारत जैसे देश में, जहां पूंजीवाद और सामन्तवाद का अन मेल मिश्रण मौजूद है, विकसित पूंजीवादी देशों की तरह स्वतन्त्रता की धारणा विकसित नहीं हुई है। यहां व्यवस्था उतनी सहनशील नहीं है कि वह विरोध और असहमति को लेखक की स्वतन्त्रता या व्यक्ति की स्वतन्त्रता के नाम पर अधिक सीमा तक बर्दाश्त कर सके। भारत में शोषण का पूंजीवादी ढंग तो विकसित हुआ है पर दमन का क्रूर सामन्ती तरीका अब भी मौजूद है। यही कारण है कि यहां लेखक और लोकतन्त्र का सम्बन्ध वैसा ही नहीं है जैसा वह विकसित पूंजीवादी लोकतान्त्रिक देशों में मिलता है। पूंजीवादी लोकतन्त्र चाहे विकसित हो या अविकसित, उसमें नागरिक स्वतन्त्रता की जो बात की जाती है उसे अमूर्त और आदर्श रूप में नहीं समझा जाना चाहिए। वर्ग समाज में नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ भी वर्ग व्यवस्था के दायरे में ही निश्चित होता है। पूंजीवादी समाज में पूंजीपति को कारखाना खोलने और मजदूरों के शोषण करने का तो नागरिक

अधिकार होता है, लेकिन मजदूर को अपने शोषण के खिलाफ आवाज उठाने और हड़ताल करने की नागरिक स्वतन्त्रता नहीं होती। जाहिर है कि वर्ग-समाज मे लेखक की वर्गीय सहानुभूति के अनुसार ही उसकी अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अर्थ भी निश्चित होगा।

लोकतन्त्र मे लेखक की आजादी का सवाल जनता की आजादी के सवाल से अलग नही है। कुछ लेखक यह समझते है कि स्वतन्त्रता के बिना जनता का काम तो चल सकता है लेकिन लेखक का काम नही चल सकता। यही कारण है कि जब कभी लेखक की स्वतन्त्रता पर हमला होता है तो दूसरे लेखक जाग उठते हैं, लेकिन जब मजदूरो और किसानो का क्रूर दमन होता है तो लेखक सोये रहते है। लेखक अपनी स्वतन्त्रता खतरे मे पड़ते देखकर जनता से सहायता की माग करते हैं पर जनता की स्वतन्त्रता के हनन के मौके पर स्वय तटस्थ हो जाते है। शायद इसका कारण यह है कि लेखक अपने को विशिष्ट प्राणी समझते हैं। वे यह भी मानते है कि लेखक की स्वतन्त्रता को बचाना जनता का दायित्व है लेकिन जनता की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करना लेखक का कर्तव्य नहीं है। वास्तव मे जनता की आजादी से ही लेखक की आजादी जुड़ी हुई है। जो समाज व्यवस्था लेखक की स्वतन्त्रता पर हमला करती है उस समाज-व्यवस्था को बदलने का काम केवल लेखक पूरा नही कर सकता। जनता ही उस समाज व्यवस्था को बदलती है और लेखक की आजादी की सुरक्षा की स्थिति पैदा करती है। वर्ग व्यवस्था के विरुद्ध जानेवाली लेखकीय स्वतन्त्रता को जब वर्गीय सत्ता समाप्त करती है तो उसके विरुद्ध संघर्षों का काम जनता पूरा करती है। इस प्रकार लेखक की स्वतन्त्रता ही नही बल्कि स्वतन्त्र लेखन के लिए जनता की स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक चेतना का विकास आवश्यक है। स्वतन्त्र जनता का ही स्वतन्त्र लेखक और स्वतन्त्र साहित्य होता है।

कुछ लेखक लेखकीय स्वतन्त्रता के नाम पर 'परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई' जैसी स्वतन्त्रता चाहते है। ये लोग नही जानते कि व्यक्तिस्वातन्त्र्य सामत वाद के खिलाफ जनता के लम्बे संघर्ष का परिणाम है। सामन्ती दासता से मुक्ति और व्यक्ति की स्वतन्त्रता की स्वीकृति का लक्ष्य समाज ने अपनी प्रगति के लिए प्राप्त किया था, लेकिन बुर्जुआ वर्ग ने व्यक्ति की स्वतन्त्रता को व्यक्तिवाद के रूप मे विकसित करके उसे अपनी सत्ता कायम रखने का एक हथियार बना लिया। आत्मकेन्द्री जीवन दृष्टि वाले लेखक सामूहिक स्वतन्त्रता या व्यापक जनसमुदाय की स्वतन्त्रता का तिरस्कार करते हैं। उनके अनुसार समाज उनके लिए है, लेकिन वे समाज के लिए नही हैं। ऐसे लेखक अपने को समाज से भी स्वतन्त्र और ऊपर समझते हैं। व्यक्तिवादी स्वेच्छाचारिता का यह परिणाम है।

इन अतिमानवो का यह भ्रम है कि उनका लेखकीय दायित्व उनके सामाजिक दायित्व से मुक्त है। ऐसे लेखक लेखकीय स्वतन्त्रता के नाम पर विशुद्ध कला की साधना का दम्भ पालते है। यह कलावाद बुर्जुआ समाज के व्यक्तिवाद की देन है। सार्त्र ने ठीक ही लिखा है कि विशुद्ध कला और खोखली कला एक ही चीज के दो नाम हैं। ऐसी कलावाद को बुर्जुआ व्यवस्था वर्दाश्त ही नही करती, उसे बढावा भी देती है, क्योंकि ऐसी कला सामाजिक समस्याओ से लोगो का ध्यान हटाती है। इस प्रकार की कला को पालने वाले बुर्जुआ समाज को कोई विलासी समाज कहे तो इससे बुर्जुआ समाज व्यवस्था को कोई एतराज न होगा, क्योंकि जैसा कि सार्त्र ने लिखा है, बुर्जुआ वर्ग अपने को शोषक कहे जाने के बदले विलासी या ऐय्याश कहलाना पसन्द करेगा। लेकिन सवाल यह है कि क्या कोई व्यक्ति जिस समाज मे रहता है वह उसके प्रभावो से अछूता रह सकता है? कदापि नही। समाज के बाहर या समाज के विरुद्ध लेखकीय स्वतन्त्रता का कोई अस्तित्व नही होता। लेखक समाज मे ही अपनी स्वतन्त्रता पाता और खोता है। अगर लेखक समाज से अपनी स्वतन्त्रता की माग करता है, अपने लेखकीय व्यक्तित्व के विकास के अवसर चाहता है तो समाज भी लेखक से उसके सामाजिक दायित्व की माग करता है। समाज मे लेखक की स्वतन्त्रता अगर कभी सीमित होती है तो समाज मे ही उसकी सुरक्षा भी होती है। जो लेखक चरम स्वतन्त्रता के नाम पर या तटस्थता के नाम पर अपने सामाजिक दायित्व से बचना चाहते है वे समाज को ही नही अपने को भी धोखा देते है क्योकि समाज जिन राजनीतिक आर्थिक परिस्थितियो और व्यवस्थाओ से गुजरता है उनका प्रभाव स्वतन्त्रता या तटस्थता का दावा करनेवाले लेखको पर भी पडता है। शायद इस प्रकार की स्वतन्त्रता और तटस्थता के हिमायती लेखको और बुद्धिजीवियो को ध्यान मे रखकर ही फ्रास के 1968 के विद्रोही छात्रो ने यह नारा दिया था—"जो चुपचाप खडे रहते हैं और इन्तजार करते हैं वे भी मरते हैं।"

भारत मे पूजीवादी लोकतन्त्र है और इस लोकतन्त्र से किसी भी ईमानदार लेखक का विरोध अनिवार्य है। लेकिन इस व्यवस्था के विरोध के भी अनेक रूप हैं। इस समाज व्यवस्था और उसके यथार्थ को देखने समझने के दृष्टिकोण की भिन्नता से विरोध की अभिव्यक्ति मे भी फर्क आता है। लेखको की वर्गीय स्थिति और उनके विचारधारात्मक लगाव से उनका यथार्थबोध प्रभावित होता है। आधुनिक हिन्दी कविता के कुछ कवियो की कविताओ के माध्यम से उनके व्यवस्था विरोध के अन्तर को देखा जा सकता है और इस तरह लेखक और लोकतन्त्र के सम्बन्ध की पहचान का प्रयत्न किया जा सकता है।

जो रचनाकार अपनी रचनाओ मे वक्तव्यो दावो, वादो नारो और घोषणाओ से बचते हुए इस समाज व्यवस्था से यथार्थ के विभिन्न रूपो और

आयामो की अभिव्यक्ति करते हैं, वे भी इस व्यवस्था की सच्चाई को जनता के सामने लाकर अपनी व्यवस्था विरोधी भूमिका निभाते हैं, क्योंकि वास्तविकता के सच्चे बोध से ही विरोध की सच्ची चेतना विकसित होती है। रघुवीर सहाय की कविताओ मे इस व्यवस्था के छद्म, शोषण, अमानवीय रूप और इन सबके बीच मे जीनेवाले व्यक्ति की जीवनदशा की अभिव्यक्ति है। उनकी कविताओ मे शोषण और दमन की व्यवस्था और उसकी परिणतियो का भी चित्रण है। लेकिन कठिनाई यह है कि यह सारा यथार्थ शहरी जीवन के मध्यवर्गीय समाज का यथार्थ है। इस समाज मे व्याप्त भ्रष्टाचार, अवसरवादिता, खुशामद, कायरता और समझौतापरस्ती पर कवि व्यग्य करता है, पर स्वय तटस्थ बना रहता है। जहा कवि की यथार्थ से सम्बद्धता प्रकट होती है वहा कविता अधिक मार्मिक और सार्थक बन जाती है।

निधन जनता का शोषण है
कह कर आप हँसे
लोकतन्त्र का अन्तिम क्षण है
कहकर आप हँसे
सब के सब हैं भ्रष्टाचारी
कहकर आप हँसे
चारो ओर बडी लाचारी
कहकर आप हँसे
कितने आप सुरक्षित होंगे
म सोचने लगा
सहसा मुझे अकेला पाकर
फिर से आप हँसे

यह हँसी कितनी अमानवीय है, यह कहने की जरूरत नही है। इस व्यवस्था की अमानवीयता का ही यह एक प्रमाण है कि रोने की बात को हँसकर टालने की कोशिश होती है। जनता के शोषण, लोकतन्त्र का अन्त, शासन मे भ्रष्टाचारी रूप और जनता की लाचारी पर अगर कोई व्यक्ति हँसता है तो इन सबके बारे मे उसकी चिन्ता नहीं, मक्कारी प्रकट होती है और इसी तरह की मक्कारी के सहारे यह अमानवीय व्यवस्था चल रही है। रघुवीर सहाय के यथार्थ चित्रण के साथ यह एक खास बात है कि अपनी अधिकाश कविताओ मे वे व्यवस्था के यथार्थ पर तटस्थ भाव से व्यग्य करते दिखाई देते हैं जिससे पाठक के मन मे एक तरह का व्यथता-बोध पैदा होता है। व्यवस्था मे यथार्थ का चित्रण तटस्थता की स्थिति मे रहकर भी किया जा सकता है और व्यवस्था की अमा

विरोध मे होने वाले कम ही हैं। धूमिल ने अपनी कविताओ म सबसे अधिक आक्रमण मध्यवर्गीय समझौतापरस्ती और कायरता पर ही किया है। इन प्रवृत्तियो पर आक्रमण करते हुए धूमिल अपने को भी नही छोडते। उन्होंने लिखा है "मैं कोई ठण्डा आदमी नही हू/मुझम भी आग है/मगर वह भभककर बाहर नही आती/क्योकि उसके चारो तरफ चक्कर काटता हुआ/एक पूजीवादी दिमाग है/जो परिवतन तो चाहता है/मगर आहिस्ता आहिस्ता।"

धूमिल इस मानसिकता से मुक्त होने के लिए निरतर सघष करते रहे और इस निष्कष पर पहुचे कि 'सहमति ? नही, यह समकालीन शब्द नही है।' धूमिल समाज के साथ साथ अपने-आपको भी बदलने की कोशिश करते हैं। सामाजिक बदलाव मे एक रचनाकार की क्या भूमिका है और इस सम्बन्ध मे धूमिल का क्या दष्टिकोण है—यह देखना जरूरी है। धूमिल के अनुसार "कविता/भाषा मे/आदमी होने की तमीज है।" यह कविता का नया चरित्र है जो उसे मनुष्यता से गहरे स्तर पर जोडता है। लेकिन भाषा मे आदमी होने की तमीज यानी कि कवि होने की कीमत भी बडी है। धूमिल का कहना है कि "इस वक्त जबकि कविता मागती है/समूचा आदमी अपनी खुराक के लिए" तब "अपने बचाव के लिए/खुद के खिलाफ हो जाने के सिवा/दूसरा रास्ता क्या है ?" इस व्यवस्था मे कवि होने के लिए या कि अपनी मानवीयता विकसित करने के लिए अपने स्वार्थी, समझौतापरस्त और अवसरवादी व्यक्तित्व का बलिदान जरूरी है ? इस व्यवस्था म कोई व्यक्ति कविता और जीवन दोनो मे एकसाथ सफलता प्राप्त नही कर सकता। निराला, मुक्तिबोध और धूमिल कविता म सफलता प्राप्त कर सके, पर जीवन म नहीं, जबकि पन्त और अज्ञेय जीवन मे सफल रहे, पर कविता मे नही। आदमीयत की चिन्ता करने वाली कविता और आदमीयत के खिलाफ साजिश करने वाली व्यवस्था के बीच विरोध अनिवाय है, इसलिए धूमिल कहते हैं कि "मुझे अपनी कविताओ के लिए/दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है।" यहा तक तो ठीक है लेकिन धूमिल की कविताओ मे यह सकेत नही मिलता कि दूसरा प्रजातन्त्र कसे आयेगा और उसको लाने मे कविता की क्या भूमिका होगी। धूमिल यह नही देख पाते कि वतमान प्रजातन्त्र की अमानवीयता के खिलाफ सघष करने वाले दूसरे और भी हैं और उन्ही के सघष से दूसरा प्रजातन्त्र आयेगा, केवल कवि की आकाक्षा से नही। यही धूमिल की दृष्टि की सीमा है। धूमिल जब कहते है कि "विपक्ष म/सिफ कविता है" तो लगता है कि वे कविता के व्यवस्था विरोध की शक्ति को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते हैं और इस पूजीवादी व्यवस्था और उसके वास्तविक विरोधी सवहारावग के सघष और शक्ति को नजरअन्दाज कर देते हैं। इस प्रकार धूमिल की कविता मे पूजीवादी व्यवस्था और उसके लोकतन्त्र की पहचान है, उससे

वीयता से पीडित जनता के साथ सहानुभूति स्थापित करते हुए भी। सहानुभूति की स्थिति म व्यवस्थाविरोध अधिक प्रामाणिक, विश्वसनीय और सार्थक होगा। रघुवीर सहाय की कविताओ के साथ एक दूसरी कठिनाई यह है कि उन कवि ताओ मे इस व्यवस्था के यथाथ का एकपक्षीय रूप प्रकट होता है उसम व्यापक सामाजिक यथाथ और उसकी समग्रता का बोध नही है, उसम व्यापक जन जीवन के जीवन सघर्षों के यथाथ का भी अभाव है।

कई दूसरे कवियो की तरह रघुवीर सहाय को अपनी कविता की शक्ति के बारे मे कोई भ्रम नही है। वे जानते हैं कि इससे सत्ता का तिलस्म टूट नही सकता, इसलिए वे अपनी कविता से अपने मन की कायरता को ही तोडना चाहते हैं। उन्होने लिखा है

कुछ होगा कुछ होगा अगर मैं बोलूगा।
न टूटे न टूटे तिलस्म सत्ता का मेरे अन्दर
एक कायर टूटेगा टूट।
मेरे मन टूट एक बार सही तरह।

अपनी झूठी वीरता का प्रदशन करने वालो की तुलना म आत्मविडम्बना का यह बोध बेहतर है। इसम अपन मन की कायरता की पहचान है, उसे तोडने की इच्छा भी है और अगर एक बार कायर मन टूट जाये तो कुछ बेहतर की उम्मीद भी की जा सकती है। लेकिन यहा की दिक्कत यह है कि वे यह नही पहचानते कि इस मन की कायरता का सत्ता के तिलस्म से भी एक नाता है और जब तक वह नाता नही टूटता तब तक मन की कायरता भी नही टूटेगी। असल म विरोध की ऐसी मुद्रा, जिसमे काख भी ढकी रहे और मुटठी भी तनी रहे विरोध और विरोधी को विडम्बनापूण स्थिति मे लाकर खडा कर देती है। ऐसी स्थिति मे व्यवस्था विरोध प्रभावहीन हो जाता है।

धूमिल वर्तमान भारतीय समाज व्यवस्था और लोकतन्त्र का रघुवीर सहाय से भिन्न नजरो से देखते हैं। उनको इस लोकतन्त्र के असली रूप के बारे मे कोई भ्रम नही है। उनके अनुसार इस लोकतन्त्र म जिन्दा रहने के लिए 'घोडे और घास को' एक जैसी छट है। इस लोकतन्त्र की विभिन्न सस्थाओ और नारो के खोखलेपन का भी धूमिल को स्पष्ट बोध है। धूमिल न महसूस किया था कि मैं वक्त के/एक शमनाक दौर से गुजर रहा हू।' वक्त का यह दौर शमनाक इसलिए है कि इस अमानवीय व्यवस्था म जीने की मजबूरी का निरतर अहसास है और इसलिए भी कि 'इस वक्त सच्चाई को जानना/विरोध म होना है। फिर भी कायरता, स्वाथ और समझौतापरस्ती के कारण व्यवस्था मे

विरोध मे होने वाले कम ही हैं। धूमिल ने अपनी कविताओ मे सबसे अधिक आक्रमण मध्यवर्गीय समझौतापरस्ती और कायरता पर ही किया है। इन प्रवृत्तियो पर आक्रमण करते हुए धूमिल अपने को भी नही छोडते। उन्होने लिखा है "मैं कोई ठण्डा आदमी नही हू/मुझमे भी आग है/मगर वह भभककर बाहर नही आती/क्योकि उसके चारो तरफ चक्कर काटता हुआ/एक पूजीवादी दिमाग है/जो परिवर्तन तो चाहता है/मगर आहिस्ता आहिस्ता।"

धूमिल इस मानसिकता से मुक्त होने के लिए निरतर सघर्ष करते रहे और इस निष्कर्ष पर पहुचे कि 'सहमति ? नही, यह समकालीन शब्द नही है।' धूमिल समाज के साथ साथ अपने-आपको भी बदलने की कोशिश करते हैं। सामाजिक बदलाव मे एक रचनाकार की क्या भूमिका है और इस सम्बन्ध मे धूमिल का क्या दृष्टिकोण है—यह देखना जरूरी है। धूमिल के अनुसार "कविता/भाषा मे/आदमी होने की तमीज है।" यह कविता का नया चरित्र है जो उसे मनुष्यता से गहरे स्तर पर जोडता है। लेकिन भाषा मे आदमी होने की तमीज यानी कि कवि होने की कीमत भी बडी है। धूमिल का कहना है कि "इस वक्त जबकि कविता मागती है/समूचा आदमी अपनी खुराक के लिए" तब "अपने बचाव के लिए/खुद के खिलाफ हो जाने के सिवा/दूसरा रास्ता क्या है ?" इस व्यवस्था मे कवि होने के लिए या कि अपनी मानवीयता विकसित करने के लिए अपने स्वार्थी, समझौतापरस्त और अवसरवादी व्यक्तित्व का बलिदान जरूरी है ? इस व्यवस्था मे कोई व्यक्ति कविता और जीवन दोनो मे एकसाथ सफलता प्राप्त नही कर सकता। निराला, मुक्तिबोध और धूमिल कविता मे सफलता प्राप्त कर सके, पर जीवन मे नही, जबकि पत और अज्ञेय जीवन मे सफल रहे पर कविता मे नही। आदमीयत की चिन्ता करने वाली कविता और आदमीयत के खिलाफ साजिश करने वाली व्यवस्था के बीच विरोध अनिवार्य है इसलिए धूमिल कहते हैं कि "मुझे अपनी कविताओ के लिए/दूसरे प्रजातन्त्र की तलाश है।' यहा तक तो ठीक है, लेकिन धूमिल की कविताओ मे यह सकेत नही मिलता कि दूसरा प्रजातन्त्र कैसे आयेगा और उसको लाने मे कविता की क्या भूमिका होगी। धूमिल यह नही देख पाते कि वर्तमान प्रजातन्त्र की अमानवीयता के खिलाफ सघर्ष करने वाले दूसरे और भी हैं और उन्ही के सघर्ष से दूसरा प्रजातन्त्र आयेगा, केवल कवि की आकाक्षा से नही। यही धूमिल की दृष्टि की सीमा है। धूमिल जब कहते हैं कि "विपक्ष मे/सिर्फ कविता है" तो लगता है कि वे कविता के व्यवस्था विरोध की शक्ति को जरूरत से ज्यादा महत्त्व देते है और इस पूजीवादी व्यवस्था और उसके वास्तविक विरोधी सर्वहारावर्ग के सघर्ष और शक्ति को नजरअन्दाज कर देते है। इस प्रकार धूमिल की कविता मे पूजीवादी व्यवस्था और उसके लोकतन्त्र की पहचान है, उससे

स्पष्ट विरोध का बोध भी है और उसके खिलाफ संघर्ष करने की आकांक्षा भी है लेकिन इतिहास की गति और प्रक्रिया की समझ के अभाव में वे इस व्यवस्था और इसके लोकतन्त्र की भावी परिणतियों को नहीं देख पाते।

मुक्तिबोध की रचनाओं में भारत की पूजीवादी समाज व्यवस्था के जन विरोधी स्वभाव और उसके अमानवीय व्यवहार के अनेक रूपों का बार बार चित्रण हुआ है। उनकी कविताओं में पूजीवादी शासन व्यवस्था का भयंकर दमनकारी रूप उभरकर सामने आता है। इस शासन व्यवस्था के शोषण और अन्याय के खिलाफ जनता का विरोध जब अधिक शक्तिशाली रूप में प्रकट होता है तो उसके दमन के लिए राजसत्ता अधिक खूंखार हो जाती है। इस सत्ता के समर्थक बुद्धिजीवी अनेक प्रकार से व्यवस्था की मदद करते हैं। मुक्तिबोध ने ऐसे बुद्धिजीवियों की ओर बार बार संकेत किया है। 'चांद का मुह टेढा है' कविता में उन्होंने लिखा है—"आजकल/दिन के उजाले में ही अंधेरे की साख है/ रात्रि की काख में दबी हुई/संस्कृति पाखी के पंख है सुरक्षित/।" 'अंधेरे में' कविता में शोषण सत्ता की 'शोभायात्रा' में शामिल बुद्धिजीवी दिखाई देते हैं। इस शोषण सत्ता के सक्रिय सहयोगी बुद्धिजीवियों के अतिरिक्त तटस्थता का नाटक करने वाले बुद्धिजीवी भी हैं, लेकिन 'रक्तपायी वर्ग से नाभि नाल बद्ध ये लोग' अंततः शोषण व्यवस्था का ही साथ देते हैं।

मुक्तिबोध की कविताओं में शोषक सत्ता का दमनकारी रूप ही नहीं है उससे संघर्ष करने वाली जनता और उसके सहयोगी बुद्धिजीवी कलाकार भी दिखाई देते हैं। जन संघर्ष में मजदूर और कलाकार साथ साथ आगे बढते हैं। जब जनचेतना से तादात्म्य स्थापित करने वाला कलाकार कार्यकर्ता भी होता है तो पोस्टर और कविता में एकता बढती है। 'अंधेरे में' कविता में शोषक सत्ता और जनता के संघर्ष के संदर्भ में कवि, कलाकार और बुद्धिजीवियों की भूमिका का विस्तार से चित्रण हुआ है। मुक्तिबोध में अपनी मध्यवर्गीय चेतना के तंग दायरे से निकलकर संघर्षशील जनता से एकता स्थापित करने वाले व्यक्ति के आत्म संघर्ष की जटिल प्रक्रिया की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। एक आत्मबद्ध व्यक्ति सामाजिक यथार्थ और राजसत्ता के वास्तविक स्वरूप की पहचान करते हुए क्रमशः जनचेतना से एकता स्थापित करने की कोशिश करता है, लेकिन उसके मध्यवर्गीय संस्कार और भाव बार-बार बाधक बनकर उसकी विकास प्रक्रिया को रोकते हैं। उसका मन संकल्प विकल्प की दशा से गुजरता है लेकिन सामाजिक यथार्थ और समाज व्यवस्था के असली रूप के साक्षात्कार से उसकी चेतना का विकास होता है। इस प्रक्रिया में ही वह दोस्त और दुश्मनों की पहचान करता है। शोषक सत्ता को खतरा उन्हीं लेखकों से होता है जो उसके असली

रूप को पहचानते हैं और उसे जनता के सामने रखते है। जनचेतना से एकता कायम करने वाले लेखक को ही यह बोध हो सकता है कि "जनता के गुणो से ही सम्भव/भावी का उदय।" आततायी सत्ता के खिलाफ अपनी आस्था और दृष्टिकोण की जनवादिता के बावजूद अकेला लेखक सघर्ष नही कर सकता। मुक्तिबोध ने 'अधेरे मे' कविता म यह दिखाया है कि स्वप्न, ज्ञान और जीवनानुभव से भरपूर एक कलाकार आततायी सत्ता द्वारा इसलिए मारा जाता है कि वह जनता से सहानुभूति रखता है पर जनता मे जुडा हुआ नही है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि सत्ता के खिलाफ सघर्ष करन वाले लेखक को 'सकर्मक सत् चित 'वेदना भास्कर' सहचरो की आवश्यकता होती है। राजसत्ता अपने विरोधियो को, खासतौर से जनता से सच्ची एकता स्थापित करने वाले लेखको कलाकारो को यो ही नही छोड देती। ऐसे लेखको कलाकारो को कई बार भीषण यातना से गुजरना पडता है। सत्ता यातना देकर लेखक की विचारधारा, यथार्थ बोध और आस्था को नष्ट करना चाहती है, क्योकि इनके अभाव म कोई लेखक व्यवस्था की चिन्ता का विषय नही हो सकता। 'अधेरे मे' कविता म एक जनवादी लेखक जिस यातना से गुजरता दिखाई देता है, वह अब केवल कल्पना की चीज नही रह गई ह। पिछले कुछ वर्षों से इस दश के जनवादी लेखक और कलाकार एक भयानक वास्तविकता के रूप मे उसका सामना कर रहे हैं।

मुक्तिबोध 'अधेरे मे कविता मे शोषक सत्ता का विरोध करने वाले और जनता से सक्रिय महानुभूति स्थापित करन वाले लेखको, कलाकारो के जनवादी विचार और कर्म की एकता पर बार बार जोर देते हैं। जब वे 'अभिव्यक्ति के खतरा उठाने' के सकल्प की बात कहत है तो 'अभिव्यक्ति' से उनका आशय विचारधारा, आस्था और यथार्थबोध की केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति मे ही नही है। लेखक का चिन्तन जब तक उसके कर्म से नही जुडता और इन दोनो की जनता के क्रातिकारी व्यवहार से दूरी नही मिटती, तब तक किसी लेखक का जनवादी होना पूरी तरह सार्थक और प्रभावशाली नही हो सकता।

मुक्तिबोध ने वर्तमान समाज व्यवस्था के वास्तविक और सभावित रूपो का कभी सीधे सीधे और कभी फटेसी के सहारे चित्रण किया है। मुक्तिबोध के यथार्थ चित्रण म जनता के साथ उनकी स्पष्ट सहानुभूति है, यथार्थ के ऐतिहासिक स्वरूप का बोध है और इतिहास की जटिल प्रक्रिया की समझ है। उनकी कविताओ म समाज के ऐतिहासिक अन्तर्विरोधो की पहचान दिखाई देती है। मुक्तिबोध की कविता यथार्थ के स्थिर दशाओ के चित्रण की कविता नही है उसम सामाजिक यथार्थ के विकास और परिवर्तन की प्रक्रियाओ का चित्रण है।

उनकी कविता में सामाजिक यथार्थ और उससे सम्बद्ध चेतना की गतिशीलता प्रकट हुई है।

मुक्तिबोध ने यथार्थ चित्रण और आत्म-संघर्ष के दोहरे स्तर पर निरंतर अपने को जनता से जोड़ने और शोषक व्यवस्था के वास्तविक रूप का उद्घाटन करने का प्रयास किया है। उनकी कविता इस बात का प्रमाण है कि रचनाकार का आत्म-संघर्ष तभी सार्थक और सर्जनात्मक होता है जब वह व्यापक सामाजिक संघर्ष से जुड़ा है। रचनाकार के आत्मसंघर्ष को मुक्तिबोध केवल 'आत्मपरक ईमानदारी' तक ही सीमित नहीं रखते, वे उसे 'वस्तुपरक सत्यपरायणता' तक ले जाते हैं और इस प्रक्रिया में ही वे समाज व्यवस्था और उसकी वास्तविकता का सामना करते हैं। इसी प्रक्रिया में रचनाकार की चेतना समाज व्यवस्था में अपना सम्बन्ध तय करती हुई मुक्ति के लिए संघर्षशील शक्तियों के साथ अपनी पक्षधरता निश्चित करती है। यह आत्मसंघर्ष एक प्रकार से विचारधारा और यथार्थबोध के बीच एकता स्थापित करने का भी संघर्ष है।

मुक्तिबोध की कविताएं व्यक्ति और समाज के रूपान्तरण की कविताएं हैं और इस रूपान्तरण का लक्ष्य जनवादी चेतना और शोषणमुक्त समाज का विकास है। उनकी कविताओं में जनवादी चेतना के विकास की प्रक्रिया 'विवेक प्रक्रिया' और 'क्रियागत परिणति' के द्वन्द्वात्मक रूप में चलती है। उसमें व्यक्ति और समाज का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध प्रकट होता है। यहां व्यक्ति की आत्मसत्ता और समाज की वस्तुसत्ता के अन्तर्विरोध और एकता का विकासशील सम्बन्ध व्यक्त होता है और इस विकासशीलता में ही सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा भी प्रकट होती है। मुक्तिबोध की कविताओं से वर्तमान समाज व्यवस्था के यथार्थ का बोध ही नहीं होता, उनसे पाठक की चेतना को एक नई दिशा भी मिलती है, सामाजिक विकास की ऐतिहासिक आवश्यकता की पहचान भी विकसित होती है। उनकी कविताओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति की मुक्ति पूरे समाज की मुक्ति से जुड़ी हुई है। साहित्यकार और साहित्य की मुक्ति जनता की मुक्ति पर निर्भर है।

लोकप्रिय कविता का स्वरूप

लोकप्रिय साहित्य के स्वरूप और साहित्य की लोकप्रियता के बारे म अनेक प्रकार के भ्रम फैले हुए हैं। इनमे से कुछ तो वास्तविक स्थिति की उपज है और कुछ जान बूझकर फैलाए गए हैं। एक भ्रात धारणा यह है कि बाजार मे अधिक बिकनेवाला साहित्य लोकप्रिय साहित्य होता है। इस धारणा के अनुसार गुलशन नन्दा और गुरुदत्त, प्रेमचन्द से अधिक लोकप्रिय साहित्यकार मान लिए जाते हैं। जाहिर है कि *बाजार की माग और बाजारू मानसिकता के अनुरूप लिखा गया* साहित्य बाजार मे अधिक बिकता है, वह व्यावसायिक दृष्टि से लोकप्रिय भी हो जाता है। ऐसा साहित्य कुछ लोगो के मनोरजन का साधन होता है और कुछ लोगो के लिए विलास की सामग्री। लेकिन यह व्यावसायिक लोकप्रियता बहुत सीमित होती है। प्रेमचन्द जैस लेखको की रचनाओ को बार बार पढा जाता है जबकि व्यावसायिक दृष्टि स लोकप्रिय उपन्यासो को एकबार पढकर रद्दी की टोकरी म फेंक दिया जाता है। अगर लोकप्रियता को एक निश्चित समय तक सीमित न किया जाय, उसे मानव समाज के इतिहास के लबे काल के सदभ मे देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि अपने समय और जीवन की गभीर समस्याओ से सरोकार रखने वाला साहित्य अधिक स्थायी होता है और अधिक लोगो द्वारा पढा भी जाता है। बरसात की घास की तरह एकाएक उगनवाला घासलेटी साहित्य थोडे दिनो के बाद मुर्झाकर सूख जाता है, उनका नामोनिशान मिट जाता है। देशकाल की सीमाओ को लाघकर व्यापक मानव समाज की एक चेतना का अग बन जाने वाला साहित्य अधिक लोकप्रिय माना जाएगा, न कि एक सीमित समय मे बाजार म तात्कालिक व्यावसायिक लोकप्रियता प्राप्त करन वाला साहित्य।

लोकप्रिय साहित्य के बारे म दूसरी भ्रात धारणा यह है कि वह कलात्मक नही होता। कुछ लोग इस धारणा को दूसरे रूप मे सामने लाते हैं। उनका कहना है कि कलात्मक साहित्य लोकप्रिय नही होता। कला और साहित्य के बारे मे सामती और बुर्जुआ दृष्टिकोण ही लोकप्रियता और कलात्मकता को परस्पर विरोधी मानते हैं। कला और साहित्य की आभिजात्यवादी धारणा ही कला

को उच्च कला और निम्न कला मे बाटकर देखती है और उच्च कला को कलात्मक और निम्न कला को कलाहीन समझती है। उसके अनुसार निम्न कला ही लोकप्रिय होती है। इस धारणा के अनुसार लोकप्रियता कला का कोई अनिवार्य गुण नही है, बल्कि दोष है। वर्ग समाज म प्रभुत्वशाली वर्ग कला और साहित्य पर अपना प्रभुत्व बनाये रखने और जनता के सांस्कृतिक विकास को रोकने के लिए ही कला और जनता के संबध के बारे मे ऐसी धारणा का प्रचार करता है। यह धारणा गलत है। लोकप्रियता और कलात्मकता म कोई अनिवार्य विरोध नही होता। जो कला या कलाकृति व्यापक जनसमुदाय मे लोकप्रिय नही है उसे कलात्मक कहना कला के अर्थ को सीमित, संकुचित और भ्रष्ट करना है। दुनिया भर के साहित्य और कला का इतिहास इस बात का गवाह है कि महान् रचनाकारो की महान कलाकृतियां देर सवेर जनता के जीवन मे फलकर अपना उचित स्थान पा लेती है। जो कलावादी सौंदर्यवादी लेखक कलात्मक श्रेष्ठता के के नाम पर रचना को अबूझ पहेली बनाते हैं व कलात्मकता और लोकप्रियता दोनो से हाथ धो बैठते हैं। लोकप्रिय साहित्य केवल सरल, सुबोध और सपाट साहित्य नही होता वह कलाहीन भी नही होता। कलात्मकता दुर्बोधता और अलोकप्रियता मे निहित नही होती। कला की सार्थकता लोकप्रिय होने और जनता के जीवन स गहरे पठन मे प्रकट होती है।

लोकप्रिय साहित्य के बारे मे तीसरा भ्रम यह है कि लोक साहित्य, लोक कथाओ और लोकप्रिय कलारूपो को अपनाने स ही कोई रचना लोकप्रिय हो जाती है। वास्तव म लोक साहित्य और लोक-कला म सब कुछ सदैव प्रगतिशील ही नही होता। लोक साहित्य और लोकप्रिय कलारूप भी कई बार शासक वर्ग की विचारधारा की अभिव्यक्ति के माध्यम बन जाते हैं। जब जनता की सांस्कृतिक चेतना शासक-वर्ग की विचारधारा के प्रभाव म होती है तो लोक साहित्य और लोक-कलाओ म भी यह प्रभाव प्रकट होता है। शासक वर्ग अपने विचारो और जीवन मूल्यो को शाश्वत और सार्वभौम विचारो और जीवन मूल्यो के रूप मे प्रचारित करता है और इस प्रचार का शिकार जनता भी होती है। लोक साहित्य और लोक कलाओ म व्यक्त अतर्वस्तु का बिना विवेकपूर्ण मूल्यांकन किये उनके रूप को यथावत् स्वीकार करना उचित नही है। अतर्वस्तु को छोडकर केवल रूप पर ध्यान देना रूपवाद के जाल म फसना है। अत लोक साहित्य, लोक-कथा और लोक प्रचलित कलारूपो को विवेकपूर्ण मूल्यांकन करने के बाद ही स्वीकारना या अस्वीकार करना उपयोगी होगा। यह ठीक है कि लोक प्रचलित कलारूपो को स्वीकार करने से रचना की बोधगम्यता बढती है और रचना की लोकप्रियता की संभावना भी अधिक होती है। लेकिन केवल लोकप्रियता ही जनवादी कला का अतिम लक्ष्य नहीं है। उसका लक्ष्य है जनता के यथार्थ-बोध को जाग्रत करना,

उसकी चेतना को विकसित और अग्रगामी बनाना तथा जनता के मुक्ति-संघर्ष को शक्ति और दिशा देना। यही कारण है कि जनवादी रचना में रूप से अधिक अंतर्वस्तु पर ध्यान देना जरूरी है। रचनाकार अंतर्वस्तु के अनुरूप रूप का आविष्कार कर सकता है और नयी अंतर्वस्तु की अभिव्यक्ति के लिए उपयोगी लोकप्रिय कलारूपों को अपना भी सकता है। रचना की सुबोधता के लिए प्रचलित कलारूपों को यथावत् स्वीकार करना आवश्यक नहीं है। एक समर्थ रचनाकार लोकप्रचलित कलारूपों में सुधार-परिष्कार करके उनका उपयोग कर सकता है। लोकप्रिय रचनाकार जनता से केवल सीखता ही नहीं है, उसे सिखाता भी है। रचनाकार के लिए सीखने सिखाने का यह काम निरंतर चलता है। जनता और जनवादी रचनाकार के बीच यह संबंध द्वंद्वात्मक होता है। चूंकि जनता रचना में अपना जीवन और जीवन के उद्देश्य देखना चाहती है इसलिए रचना की लोकप्रियता रूप से अधिक अंतर्वस्तु पर निर्भर होती है।

लोकप्रियता के नाम पर कला की उपेक्षा नहीं होनी चाहिए और कला के नाम पर जनता की ओर से मुंह नहीं मोड़ना चाहिए। अगर जनवादी रचनाकारों को सामंती और पूंजीवादी संस्कृतियों की तुलना में एक बेहतर संस्कृति के विकास और निर्माण के लिए रचनात्मक संघर्ष करना है तो उन्हें एक ओर उस जनता का ध्यान रखना होगा जो उस बेहतर संस्कृति के आधार के निर्माण के लिए संघर्ष कर रही है और दूसरी ओर उस कला का भी ध्यान रखना होगा जो अब तक के मानव समाज की सृजनशीलता के फलस्वरूप विकसित हुई है। नयी संस्कृति कला-परंपरा के जीवंत और जनवादी तत्त्वों की उपेक्षा नहीं कर सकती। अगर आज कुछ रचनाएं अपनी जनवादी अंतर्वस्तु और उन्नत कलारूप के बावजूद लोकप्रिय नहीं हो पायी हैं तो निराश होने की कोई बात नहीं है। जनवादी रचनाकार केवल वर्तमान के लिए ही नहीं लिखते, वे भविष्य के लिए भी लिखते हैं। ऐसा कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि जनवादी रचनाकारों को भवभूति की मनोदशा में जीना और रचना करना चाहिए। भवभूति ने कहा था कि काल अनंत है और यह पृथ्वी विशाल है कभी कोई समानधर्मा जरूर पैदा होगा जो मेरी रचनाओं को समझेगा। एक जनवादी रचनाकार इस तरह भविष्यवादी होकर समकालीन संदर्भ में सार्थक और उपयोगी नहीं हो सकता। फिर भी जनता और समाज की विकासशीलता में आस्था रखनेवाला रचनाकार सामंती और पूंजीवादी समाज से बेहतर समाज व्यवस्था में अपनी रचनाओं के बेहतर भविष्य की आशा कर सकता है।

लोकप्रियता कोई स्थिर और स्थायी स्थिति नहीं है। रचनाओं की लोकप्रियता घटती-बढ़ती रहती है। भारतीय साहित्य में प्रगतिशील आंदोलन के कारण हिंदी में कबीर और उर्दू में नजीर की लोकप्रियता बढ़ी। निराला की

कविता का प्रारंभ में मजाक उड़ाया गया और पंत को छायावाद का राजकुमार घोषित किया गया, लेकिन बाद में पंत की लोकप्रियता क्रमशः घटती गयी और निराला की लोकप्रियता अब भी निरंतर बढ़ती जा रही है। आज निराला हिंदी ही नहीं, भारतीय कविता में सर्वाधिक लोकप्रिय कवियों में से एक हैं। अब तो उनकी कविता की लोकप्रियता विश्वव्यापी हो रही है। मुक्तिबोध की स्थिति भी बहुत कुछ निराला जैसी ही है।

समकालीन हिंदी कविता के संदर्भ में लोकप्रिय कविता के स्वरूप पर बात करते समय उन कवियों की कविताओं पर विचार करना अनावश्यक है जो जनता को भीड़ समझते हैं और लोकप्रियता को कलात्मकता विरोधी मानते हैं। प्रयोगवाद नयी कविता और अकविता के व्यक्तिवादी कवि कविता के संदर्भ में जनता का नाम आते ही मुंह बिचकाते रहे हैं। ये 'नदी के द्वीप' धारा (जनता) से डरते हैं, क्योंकि उन्हें अपने अस्तित्व के खो जाने का खतरा महसूस होता है। इनके यहां कला कला के लिए होती है जनता के लिए नहीं। लेकिन जो रचनाकार जनता को समाज के इतिहास और निर्माण और बुनियादी परिवर्तन की मूल शक्ति मानते हैं और जो साहित्य को बुनियादी परिवर्तन की प्रक्रिया में सहायक समझते हैं वे कविता लिखते समय या कविता के बारे में सोचते समय जनता की उपेक्षा नहीं कर सकते। वे लोकप्रियता को कविता का आवश्यक गुण मानते हैं। प्रगतिशील आंदोलन के दौर में कविता की लोकप्रियता पर बल दिया गया था और उसका विकास भी हुआ था। जो लोग प्रगतिशील आंदोलन के दौर की कविताओं पर सरलीकरण कलाहीनता और सौंदर्यविहीनता का आरोप लगाते हैं वे यह भूल जाते हैं कि छायावाद की कल्पना की रानी को वास्तविकता की पथरीली धरती पर उतार लाने और चलाने का काम आसान नहीं था। वास्तविकता की कठोर जमीन पर सधे हुए कदमों से चलने के लिए सौंदर्य से अधिक शक्ति की जरूरत थी। यह शक्ति केवल कल्पना से नहीं, वास्तविकता के बोध से मिलने वाली थी। प्रगतिशील आंदोलन के दौर की महत्त्वपूर्ण कविताएं कल्पना के सौंदर्य से अधिक वास्तविकता की शक्ति की कविताएं हैं। जीवन की वास्तविकता से जुड़ने के कारण ही इस काल की कविताओं में लोकप्रियता का गुण भी था। प्रगतिशील आंदोलन के कमजोर होने और प्रयोगवाद नयी कविता के रूपवादी कलावादी रुझान के बढ़ने के कारण लोकप्रियता से कलात्मकता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा। इस रूपवादी कलावादी रुझान से प्रेरित और प्रभावित आलोचना ने प्रगतिशील कविता में स्थूलता सरलीकरण और कलाहीनता खोजना शुरू किया। प्रगतिशील आंदोलन के वर्तमान दौर में भी कुछ कवि और कविता के आलोचक समकालीन प्रगतिशील कविता को पुराने प्रगतिशील दौर की कविता की तथाकथित आरोपित

कमजोरियो से मुक्त करने का आग्रह करते दिखाई देते हैं। इस आग्रह के कारण सूक्ष्मता, अमूत्तन और कलावाद को बढावा मिल रहा है, लोकप्रियता की उपेक्षा हो रही है। लोकप्रियता का कीमत पर कला की माधना करने वाली कविता अपने जनवादी उद्देश्यो को पूरा करन मे सफल नही हो सक्ती।

आज विचारणीय सवाल यह है कि लोकप्रिय कविता का स्वरूप क्या है? कविता की तात्कालिक लोकप्रियता और लोकप्रिय कविता मे फक करना जरूरी है। तात्कालिक और व्यावसायिक लोकप्रियता पा जानेवाली हर कविता लोकप्रिय कविता नही होती। कवि सम्मेलनो और व्यावसायिक पत्रिकाओ के सहारे बाजारू लोकप्रियता प्राप्त करनेवाली रोमानी और हास्य व्यग्य की हर कविता लोकप्रिय कविता नही कही जा सक्ती। मध्यकाल के अनेक सतो की रहस्यवादी और आध्यात्मिक कविताएँ आम जनता मे लोकप्रिय हैं, लबे काल से पाठयक्रम मे रहने के कारण रीतिकाल के बिहारी-जैसे कवियो की कविताएँ भी पढे लिखे लोगो के बीच लोकप्रिय हैं लेकिन इन सबको लोकप्रिय कविता नही कहा जा सकता। लोकप्रिय कविता कविता की एक विशिष्ट धारणा है, उसका एक विशेष चरित्र होता है। अपने समय के समाज और जनता की इच्छाओ, भावनाओ, जीवन उद्देश्या, जीवन स्थितियो और सघर्षो की अभिव्यक्ति करने वाली कविता ही लोकप्रिय कविता होती है। लोकप्रिय कविता म जनता की सघषशीलता के साथ साथ उसकी सजनशीलता की भी अभिव्यक्ति होती है। लोकप्रिय कविता कलाहीन नही होती, लेकिन केवल कला की आराधना उसका उद्देश्य नही होता। वह जनता के जीवन की कविता होती है और जनता के लिए कविता होती है। लोकप्रिय कविता अपने समय के समाज और जनता की आवाज होती है, एक ऐसी आवाज, जिसे जनता सुन सके और समझ भी सके।

लोकप्रिय कविता यथाथवादी कविता हाती है। ऐसी कविता दृष्टिकोण और शिल्प दोनो ही स्तरा पर यथाथवादी होती है। यथाथवाद जीवन की विकासशीलता मे आस्था रखनेवाली रचनादष्टि का सिद्धात है, वह केवल अभिव्यजना पद्धति ही नही है। रचना का स्वरूप सामाजिक यथाथ और रचना के भीतर के यथाथ के सबध से निर्धारित होता है। यह ठीक है कि रचना के भीतर का यथाथ सामाजिक यथाथ का प्रतिबिंब होता है, लेकिन दोनो एक ही नही होते। प्रतिबिबन की रचनात्मक प्रक्रिया मे मूल वस्तु मे बहुत कुछ जुड जाता है और उनम स बहुत कुछ छूट भी जाता है। रचनाकार अपने दष्टिकोण और सजनात्मक कल्पना के सहारे सामाजिक यथाथ को पुनरचित करके रचना मे व्यक्त करता है, इसलिए उसमे बाहर के यथाथ के साथ साथ रचनाकार का निजी दृष्टिकोण, रचनात्मक उद्देश्य और व्यक्तित्व भी प्रकट होता है। एक रचनाकार का सामाजिक यथाथ को देखने का दृष्टिकोण मूलवस्तु का गुणधम

काय कारण प्रक्रिया की जटिलताओ की खोज करना, समाज म शासक वग की हावी विचारधारा को बेनकाब करना, वतमान समय मे मानव-समाज जिन भीषण कठिनाइयो से गुजर रहा है उनसे मुक्ति के सर्वाधिक व्यापक उपाय पेश करनेवाले सवहारा वग के दृष्टिकोण से रचना करना, विकासशील तत्त्वो को महत्त्व देना, सभावनाओ का मूत्तरूप देना और ठोस वस्तुस्थिति से सभावित सामान्य निष्कष निकालना।" ब्रेख्त की लोकप्रियता और यथाथवाद की धारणाआ की सच्ची एकता के आधार पर विकसित रचना दृष्टि से ही लोकप्रिय कविता का विकास हो सकता है। ऐसा नही है कि समकालीन प्रगतिशील रचनाकारो के सामने ऐसी रचनाओ का अभाव है जिनमे यथाथवाद और लोकप्रियता की एकता मौजूद हो। हिंदी म नागार्जुन ऐसी साथक रचनाशीलता के सर्वाधिक समथ उदाहरण है। मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन से भी इस सदभ मे बहुत-कुछ सीखा जा सकता है।

यथायवादी रचना दृष्टि का निरतर विकास करते हुए अपनी रचनाओ म लोकप्रियता और कलात्मकता के बीच सजनात्मक एकता लाने का काम आसान नही है। इसके लिए जनता और रचना से गहरी प्रतिबद्धता, दोनो की विकासशीलता म गहरी आस्था और दोनो की विकास प्रक्रिया की सही समझदारी जरूरी है। मुक्तिबाध ने कविता को 'जनचरित्री' कहा है। कविता और जनता के चरित्र की बुनियादी एकता को समझनेवाले रचनाकार ही लोकप्रिय कविता का विकास कर सकते हैं। जनता और कविता के चरित्र की बुनियादी एकता को समझने के लिए रचनाकारो का जनता से सच्ची सहानुभूति स्थापित करना जरूरी है। आज अनेक प्रगतिशील कवि इस दिशा मे आगे बढ रहे हैं। समकालीन प्रगतिशील पत्रिकाआ मे बहुत सारी ऐसी रचनाएँ छप रही है जिनमे लोकप्रिय कविता की सभावना प्रकट हो रही ह।

बनकर रचना मे प्रकट होता है। यथार्थवादी रचनादृष्टि के अनुसार निर्मित कृति मे व्यक्त यथार्थ और उसके मूलाधार यथार्थ के बीच प्रत्यक्ष और सीधा सबध होता है। पाठक को दोनो के बीच सबध और सगति खोजने मे बहुत कठिनाई नही होती। रोमांटिक बिंबवादी, प्रतीकवादी और अमूर्त्तनवादी रचनाओ म सामाजिक यथार्थ और रचना के भीतर के यथार्थ के बीच का सबध क्रमश परोक्ष, क्षीण और असगत होता जाता है। अमूर्त्तनवादी रचनाओ म तो यह सबध लगभग गायब हो जाता है। जहा रचना मे विचार को वस्तु से और भाषा को यथार्थ से एकदम स्वतत्र माना जाता है वहा यथार्थवाद की कोई सभावना नही होती। ऐसा नही है कि यथार्थवादी रचना मे बिंब, प्रतीक और अमूर्तन की सभावना नही होती, इनके लिए कोई जगह नही होती। यथार्थवादी रचना दृष्टि के अतर्गत रचना म आनेवाले बिंब, प्रतीक और अमूर्त्त चिंतन का सामाजिक यथार्थ से सबध बना रहता है, उनका विकास यथार्थवादी रचना दृष्टि के अनुसार ही होता है। बिंब और प्रतीक स्वभावत मूलवस्तु या सामाजिक यथार्थ की ओर सकेत करते हैं। यहा तक कि अमूर्त्तन की प्रक्रिया से उत्पन्न वचारिक सामान्यीकरण भी अपने मूल सामाजिक यथार्थ से सर्वथा असबद्ध नही होता। जहा बिंब प्रतीक और अमूर्तन रचना के साधन और अवयव न होकर स्वय साध्य और स्वतत्र हो जाते हैं, वहा वे सामाजिक यथार्थ से असबद्ध और निरपेक्ष हो जाते हैं। ऐसी रचना दृष्टि से निर्मित कविता कभी लोकप्रिय नही होती। समकालीन प्रगतिशील कविता का एक बहुत बडा हिस्सा पुरानी प्रगतिशीलता की स्थूलता सरलीकरण और कलाहीनता से बचने के नाम पर बिंबवादी, प्रतीकवादी और अमूर्त्तनवादी रचनादृष्टि का शिकार हो रही है, इसलिए उससे लोकप्रिय कविता का स्वरूप विकसित नही हो पा रहा है। यथार्थवादी रचना दृष्टि से ही लोकप्रिय कविता का विकास सभव है।

लोकप्रिय कविता के विकास के लिए लोकप्रियता और यथार्थवाद की एकता आवश्यक है। इस शताब्दी के महान् जनवादी रचनाकार ब्रेख्त न लोकप्रिय और 'यथार्थवाद' की धारणाओ की जो व्याख्या की है, उस पर ध्यान देना जरूरी है। ब्रेख्त के अनुसार 'लोकप्रिय वह है जो व्यापक जनता के लिए बोधगम्य हो, जो जनता के अभिव्यक्ति रूपो को अपनाए और उन्हें समृद्ध बनाए, जो जनता के दृष्टिकोण को स्वीकारे और सुधारे, जो जनता के सर्वाधिक प्रगति शील हिस्से की नतृत्वकारी शक्ति का चित्रण कर, जो प्रगतिशील परपराओ की स्थापना कर और उन्हें समृद्ध कर, जो वतमान शासक वग के बदले राष्ट्र और समाज का नतृत्व करन के लिए सघर्षशील जनता तक पहुँच सके। ब्रेख्त न यथार्थवाद की जो व्याख्या की है वह उनकी लोकप्रियता की धारणा से अवि भाज्य रूप स सबद्ध है। ब्रेख्त के अनुसार "यथार्थवाद का उद्देश्य है समाज की

काय कारण प्रक्रिया की जटिलताओं की खोज करना, समाज मे शासक वर्ग की हावी विचारधारा को बेनकाब करना, वतमान समय मे मानव समाज जिन भीषण कठिनाइयो से गुजर रहा है उनसे मुक्ति के सर्वाधिक व्यापक उपाय पेश करनेवाले सवहारा-वग के दृष्टिकोण मे रचना करना, विकासशील तत्वो को महत्त्व देना, सभावनाओ को मूतरूप देना और ठोस वस्तुस्थिति से सभावित सामान्य निष्कष निकालना ।" ब्रेख्त की लोकप्रियता और यथाथवाद की धारणाओ की सच्ची एकता के आधार पर विकसित रचना दृष्टि से ही लोकप्रिय कविता का विकास हो सकता है। ऐसा नही है कि समकालीन प्रगतिशील रचनाकारो के सामने ऐसी रचनाओ का अभाव है जिनम यथाथवाद और लोकप्रियता की एकता मौजूद हो। हिंदी मे नागाजुन ऐसी साथक रचनाशीलता के सर्वाधिक समथ उदाहरण है। मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन से भी इस सदभ म बहुत कुछ सीखा जा सकता है।

यथाथवादी रचना दृष्टि का निरतर विकास करते हुए अपनी रचनाओ म लोकप्रियता और कलात्मकता के बीच सजनात्मक एकता लाने का काम आसान नही है। इसके लिए जनता और रचना से गहरी प्रतिबद्धता, दोना की विकासशीलता म गहरी आस्था और दोनो की विकास प्रक्रिया की सही समभदारी जरूरी है। मुक्तिबोध ने कविता को 'जनचरित्री' कहा है। कविता और जनता के चरित्र की बुनियादी एकता को समभनेवाले रचनाकार ही लोकप्रिय कविता का विकास कर सकते हैं। जनता और कविता के चरित्र की बुनियादी एकता को समभने के लिए रचनाकारो का जनता से सच्ची सहानुभूति स्थापित करना जरूरी है। आज अनेक प्रगतिशील कवि इस दिशा मे आगे बढ रहे हैं। समकालीन प्रगतिशील पत्रिकाओ मे बहुत सारी ऐसी रचनाएँ छप रही हैं जिनमे लोकप्रिय कविता की सभावना प्रकट हो रही है।

वाम कविता या जनवादी कविता ?

पिछले कुछ वर्षों से प्रगतिशील रचनाशीलता पर विचार करते समय कभी कभी 'जनवादी या प्रगतिशील' के पर्याय के रूप में 'वाम' का प्रयोग होने लगा है। विभिन्न प्रगतिशील पत्रिकाओं में समय समय पर 'युवा लेखन में वाम ('वाम -2-3) 'समकालीन वाम लेखन' 'ओर' 11) और 'वाम कविता का सौन्दर्य शास्त्र' जैसे शीर्षक वाले लेखों में समकालीन प्रगतिशील साहित्य की समस्याओं पर विचार के प्रयास हुए हैं। इस प्रसंग में कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह का लम्बा लेख 'काव्यभाषा का वामपक्ष' (आलोचना 34, 35) भी स्मरणीय है। श्री ओमप्रकाश ग्रेवाल का लेख 'समकालीन हिन्दी कविता में 'वाम' इसी विचार परम्परा को आगे बढ़ाता है। ऐसे लेखों में बार बार 'वाम' के प्रयोग को देखकर कई सवाल पैदा होते हैं। एक सवाल तो यही सामने आता है कि किसी रचना को प्रतिबद्ध, प्रगतिशील, जनवादी या क्रांतिकारी कहने के बदले 'वाम' या 'वामपंथी' कहने की क्या सार्थकता और अनिवार्यता है? दूसरे यह भी विचारणीय है कि मार्क्सवादी आलोचना और सौंदर्यशास्त्र में 'वाम' या 'वामपंथी' जैसी कोई धारणा है या नहीं? तीसरा सवाल यह कि समकालीन रचनाशीलता के विभिन्न रूपों के संदर्भ में वाम या 'वामपंथी' रचना की मुख्य विशेषताएँ क्या है? मार्क्सवादी आलोचकों को इस प्रश्न पर भी विचार करना चाहिए कि देश में वर्तमान राजनतिक वातावरण में 'वामपंथी' कहे जाने वाले दलों की विचारधारात्मक और व्यावहारिक गतिविधि के स्वरूप में साहित्य या कला की आलोचना में प्रयुक्त होने वाली 'वाम' जैसी धारणा का क्या सम्बन्ध होगा?

देश और विदेश के मार्क्सवादी साहित्यचिंतन और सौंदर्यशास्त्र में प्रगतिशीलता प्रतिबद्धता जनवादी और क्रांतिकारी आदि धारणाओं पर पर्याप्त विचार विमर्श हुआ है इसलिए उनके बारे में भ्रम की विशेष संभावना नहीं है। भारत या भारत के बाहर के मार्क्सवादी कला और साहित्यचिंतन में वाम या वामपंथी जैसी किसी धारणा की व्याख्या और विकसित रूपरेखा नहीं मिलती। कला के संदर्भ में रेडिकल या मूलगामी प्रवृत्तियों की चर्चा हुई है और समाजवादी कविता के संग्रह भी निकले हैं लेकिन वाम कला या वाम साहित्य की चर्चा अभी कहीं

दखने म नही आयी है। 'वाम' या 'दक्षिण' का प्रयोग व्यावहारिक राजनीति मे, विशेषत दलगत राजनीति के स॰ॅम म होता है। दलनीति (पार्टी लाइन) के सदभ म वामपथी या दभिण पथी भटकावा पर विचार हुआ है और मावसवाद के सद्धान्तिक स्वरूप के प्रसग मे वामपथी या दक्षिणपथी सशोधनवाद पर लगा तार बहसें होती रही हैं। मावसवादी दशन और साम्यवादी राजनीति के इति हास म 'दक्षिण' की तरह 'वाम' भी एक बदनाम शब्द है। व्यावहारिक राजनीति मे 'वाम' एक ऐसी प्रवृत्ति या धारणा है जिसका निश्चित अथ राजनीतिक सदम और परिवेश मे निर्धारित होता है। ऐसी स्थिति मे समकालीन रचना-शीलता की एक खास प्रवत्ति को 'वामपथी' कहना कहाँ तक सही है—इस पर विचार होना चाहिए।

राजनीति मे या कही भी, 'वाम' कहत ही उसके समानातर स्थित *'दक्षिण' का बोध होता है और एक किसी केद्र का भी। एक केद्रीय नीति या* विचारधारा की सापेक्षता म ही वाम और दक्षिण की बात की जाती है। वतमान भारतीय राजनीति मे अपने को वामपथी कहने वाले अनेक राजनैतिक दल हैं। दूसरे दला की बात छोड भी दी जाय तो साम्यवादी दल के ही तीन रूप मौजूद है, जो अपने को एक दूसरे से अधिक वाम या वामपथी समझते हैं। इन दलो के सिद्धात और व्यवहार का देखते हुए 'वाम' की कोई स्पष्ट और सुलझी हुई धारणा सामने नही आती। विभिन्न राजनीतिक दलो से जुडे हुए या सहानुभूति रखने वाले रचनाकारा की राजनीतिक दष्टि और कलादष्टि अपने दल की नीतियो से प्रभावित और अनुशासित होती है। कुछ ऐसे भी रचनाकार हैं जो राजनीतिक दला से दूर है, लेकिन जनता से जुडे हुए हैं। ऐसे भी रचनाकार है जिनकी विचारधारा स्पष्ट या सही न हो, लेकिन जन-जीवन से गहरे सम्पक के कारण, उनकी रचनाओ म जनता के जीवन के यथाय का प्रामाणिक चित्रण होता है। इन सभी तरह के रचनाकारो को 'वाम की धारणा मे अतगत समेटना कैसे सभव होगा ?

भारतीय सदभ मे वाम और दक्षिण' की धारणाओ का समझने के लिए अगर शासक सत्ता को केद्र मानें तो भी ये धारणाएँ स्पष्ट नही हागी, क्योकि अनेक वामपथी दल भी सत्ता के साझेदार रहे है। शासक व्यवस्था को आधार मानकर वाम की धारणा बनाने का एक परिणाम यह भी हुआ है कि अधिकाश वामपथी रचनाएँ केवल व्यवस्था विरोध तक सीमित रह गई है उनमे नकारात्मक प्रवत्ति की ही प्रधानता दिखाई देती है। आजकल वाम के नाम पर व्यवस्था विरोध की जो कविताएँ लिखी जा रही हैं उनके अनेक स्तर और रूप हैं। व्यवस्था का विरोध रघुवीर सहाय की कविताओ मे भी है और आलोकधन्वा

की कविताओ मे भी, लेकिन दोनो की कविताओ मे दो ससारो का अ तर है।

पश्चिम मे पिछले एक दो दशको से नव वाम की धूम मची है। ये नववामपथी सच्चे मार्क्सवाद को क्लासिकल मार्क्सवाद, पुराना मार्क्सवाद या कट्टर मार्क्सवाद कहकर बदनाम करते हैं और अपने को नवमार्क्सवादी घोषित करते हैं। हिदी मार्क्सवादी आलोचना मे वाम की धारणा के प्रवेश और फलाव के पीछे कही जाने अनजाने इस नव वामवाद का ही प्रभाव तो नहीं है?

हिदी मार्क्सवादी आलोचना मे प्रतिबद्धता, प्रगतिशीलता, जनवादी और क्रातिकारी के बदले 'वाम' के प्रयोग की कोई विशेष अनिवार्यता नजर नहा आती। स्वय ओमप्रकाश ग्रेवाल न इस लेख मे कई बार जनवादी' और 'प्रगतिशील का प्रयोग किया है। उन्होने 'युग परिबोध के नये अक (सितम्बर १९७६) मे श्रीराम तिवारी की कविता की समीक्षा करते हुए उसे 'जनवादी कविता का एक सार्थक प्रयास कहा है। इससे भी यह स्पष्ट है कि वाम या वामपथी जैसी नयी धारणा की आलोचना मे कोई सार्थक अनिवार्यता नहीं है।

ओमप्रकाश ग्रेवाल के लेख मे समकालीन प्रगतिशील कविता की अनेक वास्तविक कमजोरियो पर बारीकी से विचार किया गया है। उनके लेख के अनुसार समकालीन प्रगतिशील कविता की सारी कमजोरियो के दो मुख्य कारण हैं एक, कवियो का निम्नमध्यवर्गीय होना और दूसरे अकविता का दुष्प्रभाव। ये दोनो कारण लगभग ठीक हैं, लेकिन इन कारणो पर विचार करते समय कविता की दुनिया से बाहर निकल कर भी सोचने की जरूरत है। अभी इस देश मे अनेक राजनैतिक सामाजिक कारणो से किसान और मजदूर वर्ग के ऐसे रचनाकार उभरकर सामने नही आये हैं जो अपने वर्गों के जीवनानुभव, जीवन-सघर्ष और चेतना की हलचलो की व्यजना कर सकें। यहाँ के अधिकाश रचनाकार निम्नमध्यवर्ग के ही हैं यह एक सच्चाई है। जिन पुराने प्रगतिशील रचनाकारो को हम जनवादी साहित्य के मानदण्ड मानते हैं, वे भी प्राय इसी वर्ग के रहे हैं। निम्नमध्यवर्ग का होना उतना बुरा नही है जितना निम्न मध्यवर्गीय चेतना के घेरे मे कैद रह जाना। विचार करने की बात यह है कि ये निम्नमध्यवर्गीय रचनाकार जन-जीवन मे गहरा सम्पर्क स्थापित करते हुए आत्मालोचन और आत्मसघर्ष के माध्यम से अपनी चेतना का विकास और निम्नमध्यवर्गीय सस्कारो से मुक्ति प्रयास कितना कर पाते हैं? ऐसे निम्न मध्यवर्गीय रचनाकारो की चेतना के अविकसित या अर्द्धविकसित रह जाने की भारी बहुत जिम्मेदारी देश की जनवादी राजनीति पर भी आती है, केवल रचनाकारो को ही दोषी मानना ठीक नही है। ग्रेवाल ने समकालीन कविता की कमजोरियों के कारणो की तलाश करते हुए रचनाकारो की वर्गीय स्थिति और

उनकी चेतना का विश्लेषण किया है और अकविता के गलत प्रभावों की जाँच-पड़ताल भी की है, लेकिन अगर वे कविता की दुनिया से बाहर के राज-नीतिक-सामाजिक परिवेश से इन कमजोरियों को जोड़कर विचार करते तो बेहतर निष्कर्ष सामने आते। तब यह भी स्पष्ट होता कि इन रचनाओं में प्रकट होनेवाली कमजोरियों केवल रचनाकारों की वर्गीय चेतना की उपज नहीं हैं, उनका समकालीन राजनीतिक-सामाजिक परिवेश से भी गहरा सम्बन्ध है। यह ठीक है कि अधिकांश रचनाकार अपने राजनीतिक सामाजिक परिवेश से ऊपर उठकर रचना करने की क्षमता विकसित नहीं कर पाये हैं, पर ऐसी क्षमता विक-सित करना हरेक के वश की बात भी नहीं है। राजनीतिक मोर्चे के बिखराव और भटकाव से रचनाकार भी भ्रम और निराशा के शिकार होते हैं। परिवर्तन की इच्छा के बावजूद कुछ न कर पाने की मजबूरी से अहसास से उत्पन्न आतरिक बेचैनी, रचना में आक्रोश, लफ्फाजी और निराशा के रूप में प्रकट होती है।

पिछले एक दशक की जनवादी कविता ने हमें केवल निराश ही नहीं किया है, उसमें जनचेतना की गतिविधि की सार्थक व्यंजना भी हुई है। देश के राजनैतिक-सामाजिक जीवन और जनता की संघर्षशील चेतना के विकास को जनवादी कवियों ने पहचाना और चित्रित किया है। यह एक सच्चाई है कि जनता के मुक्ति संघर्ष और उस संघर्ष को आगे बढ़ानेवाली क्रांतिकारी राज-नीति के ह्रास और विकास के साथ-साथ जनवादी कविता के इतिहास में भी ह्रास और विकास के दौर आये हैं। सातवें दशक के अंत में जो क्रांतिकारी चेतना आयी और किसानों के मुक्ति संघर्षों में व्यक्त हुई उसका प्रभाव जनवादी कविता पर भी पड़ा। आलोकधन्वा की कविताओं ('जनता का आदमी' और 'गोली दागो पोस्टर') में जो जनवादी चेतना व्यक्त हुई है, वह कल्पित नहीं, वास्तविक है और उसका अपने समय की जनचेतना से गहरा सम्बन्ध है। इन कविताओं में जनता की पहचान के कारण ही कविता की पहचान भी बदली है। आलोक की कविताओं में आततायी सत्ता के खिलाफ जो आक्रोश प्रकट हुआ है, वह क्या उस चुप्पी से हजार गुना बेहतर नहीं है जिसे कुछ लोग सब-कुछ देखते हुए संयम और समझदारी के नाम पर धारण किये रहते हैं ? आलोक की कविता की 'संवेदनात्मक तीव्रता' अगर किसी कविता प्रेमी को हास्यास्पद लगती है तो उससे यही सिद्ध होता है कि कुछ लोगों के लिए आलोचना में कवितावादी होना जनवादी होने से अधिक जरूरी होता है। सत्ता और जनता के बदलते सम्बन्धों और बढ़ते संघर्षों की पहचान के प्रसंग में कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविता 'चकरी' ('कयो -4') को भी याद किया जा सकता है जिसमें सत्ता के आतंक से पीड़ित जनता के प्रति गहरी मानवीय संवेदना तो

है ही, कवि की दृष्टि दोनो के भावी सम्बन्धो को भी देखने से नही चूकती। कवि ने छोटे-से प्रसग को व्यापक सदर्भों से जोडकर कविता के प्रभाव को अधिक गहरा बनाया है।

जनवादी कविताओ म शोषक और दमनकारी शासकवर्ग के खिलाफ गुस्से का इजहार करना बुरा नही है लेकिन महज गुस्सा जाहिर करना ही काफी नही है। एगेल्स ने लिखा है कि 'वह क्रोध जो कवि को जन्म देता है, इन बुराइयो का वर्णन करने म और साथ ही शासकवर्ग के टुकडखोर मेल मिलाप के उन पैगम्बरो पर चोट करने म, जो या तो इन बुराइयो के अस्तित्व से इनकार करते हैं या उनपर लीपापोती करने की कोशिश करते हैं, यथा स्थान प्रकट होता है। किन्तु किसी भी विशेष परिस्थिति म क्रोध से कोई चीज प्रमाणित नही होती।' ('ड्यूहरिंग मतखडन', पृ० 250) केवल आक्रोश की कविताओ का प्रभाव क्षणिक होता है, आवेश मे विवेक खो देने का खतरा भी होता है। जनवादी कविता के माध्यम से पाठक जनता के जीवन और सामाजिक वास्तविकता का साक्षात्कार करना चाहता है। कविता मे क्रोध व्यक्त करके, समाज व्यवस्था के बारे म केवल अपनी राय जाहिर करने और उपदेश देने के बदले जनता के जीवन की जटिल वास्तविकता को अधिक से अधिक पूर्णता के साथ चित्रित करना बेहतर है, ताकि पाठक का यथार्थ बोध विकसित हो और उसकी चेतना का विस्तार हो। कविता अगर पाठक को अपने परिवेश के प्रति अधिक सजग और सवेदनशील न बना सके तो वह निरर्थक ही है। आजकल की बहुत सी कविताए कवि की मानसिकता से ही पाठक का परिचय कराती हैं जन जीवन की वास्तविकता स नही। ऐसी कविताओ म बार बार पाठक के सामने कई रूपो म कवि स्वय आता है। इन कविताओ का नायक प्राय कवि का 'मैं' ही होता है जो बराबर विशिष्ट बना रहता है और कविता का 'तुम', चाहे वह व्यवस्था हो या जनता प्राय बनावटी और अरूप अनाम दिखाई देता है। इन कविताओ का 'मैं' एक सम्मोहित शहीद के रूप म प्रकट होता है।

मुझे लगता है कि श्री प्रवाल ने समकालीन प्रगतिशील कविता पर अकविता के प्रभाव को काफी अतिरंजित रूप मे देखा है। उनके लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि समकालीन अधिकाश प्रगतिशील कविता या तो अकविता स पैदा हुई है या उससे गहरे स्तर तक प्रभावित है। क्या समकालीन प्रगतिशील कविता का पुरानी प्रगतिशील काव्य धारा से कोई सम्बन्ध नही है? प्रवाल न समकालीन प्रगतिशील रचनाओं म पायी जाने वाली जिस लफ्फाजी और बडबोलेपन का सीधा सम्बन्ध कवियो की अह भावना से जोड लिया है उसका कुछ सम्बन्ध पुरानी प्रगतिशील कविता स भी है। पुरानी

प्रगतिशील कविता मे जो भूठा आशावाद था उसका स्थान नयी प्रगतिशील कविता मे निराशावाद ने ले लिया है। नये प्रगतिशील दौर मे मुक्तिबोध और नागार्जुन सर्वाधिक लोकप्रिय कवि रहे हैं। नयी प्रगतिशील कविता पर इन दोना के अच्छे बुरे प्रभाव भी पडे है। मुक्तिबोध की लम्बी कविताओ के शिल्प का समकालीन कविता म पर्याप्त उपयोग हुआ है। इधर की कविताओ म मुक्तिबोध के प्रभाव के कारण ही फटेसी रचने की आदत बढी है। अनेक युवा कवि फटेसी की रचना प्रक्रिया का ठीक से निर्वाह न कर पाने के कारण जटिलता और दुरूहता के शिकार हुए हैं। ऐसी अधिकाश कविताओ मे यथाथ पीछे छूट जाता है और फटेसी ही मुख्य हो जाती है। यह एक दु खद सच्चाई है कि मुक्तिबोध की बोध दृष्टि से अधिक उनके अभिव्यजना शिल्प का ही प्रभाव समकालीन प्रगतिशील कविता पर पडा है। मुक्तिबोध की लम्बी कविताओ मे सामाजिक यथाथ की जटिल समग्रता के चित्रण का जो सफल प्रयत्न है उसे आगे बढाने की जरूरत है। ऐसा ही प्रयास विजेन्द्र की लम्बी कविता 'जनशक्ति' मे है। जनवादी कविता की परम्परा म छोटी कविताओ का कलात्मक रूप नागार्जुन केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की कविताओ मे दिखाई देता है। ये कविताए सहज शिल्प के सहारे गहरा प्रभाव पैदा करती है। अनेक नये कवियो न छोटी कविता के सहज शिल्प को नयी अन्तवस्तु के अनुरूप विकसित करते हुए सार्थक रचनाशीलता का प्रमाण दिया है। जिन कवियो के यथाथ बोध और शिल्प में सयम, सतुलन और सफाई है उनकी रचनाओ मे गहरे प्रभाव की क्षमता भी है। नन्द भारद्वाज की कविता 'आग की गरज' ('पहल'-5) मे दैनिक जीवन के परिचित प्रसग के माध्यम से विरोधी परिस्थितियो के बीच क्राति की चेतना को जीवित रखने और जगाने की प्रक्रिया की सफल अभिव्यक्ति हुई है। जिन छोटी कविताओ म सवेदनात्मक तीव्रता होती है या जीवन का कोई मार्मिक चित्र उभरता है व सरलता से पाठक की चेतना को प्रभावित करती है, लेकिन जिन छोटी कविताओ मे समकालीन जीवन के बारे मे केवल राायजनी होती है उनका प्रभाव बहुत कम होता है। इधर की कविताओ मे उपदेश देने की प्रवृत्ति काफी बढी है। यह एक ओर अपने बारे मे कवियो के गलत आत्मविश्वास का सूचक है तो दूसरी ओर जनता की शक्ति और समझ मे कवियो के अविश्वास का प्रमाण भी है।

समकालीन प्रगतिशील कविता की विषय वस्तु के विस्तार को देखकर सतोष होता है लेकिन प्रकृति, प्रेम और सौंदय की कविताओ का अभाव खटकता है। कुछ लोग यह समझते हैं कि जनवादी कविता मे प्रकृति, प्रेम और सौन्दय के लिए कोई जगह नही है। ऐसे लोगो को अपना भ्रम दूर करने लिए माओ और हो ची मिन्ह जैसे क्रातिकारियो तथा नेरूदा, नाजिम हिक्मत और ब्रेख्त

जैसे जनवादी कवियो की कविताओ को पढना चाहिए। दुनिया भर के नये पुराने जनवादी कवियो ने प्रकृति, प्रेम और सौन्दय की कविताए लिखी हैं। रूस के समकालीन कवियो की कविताए पढकर यह समझा जा सकता है कि प्रकृति, प्रेम और सौन्दय से मावसवाद की कोई दुश्मनी नही है। हिन्दी मे निराला, नागाजुन, शमशेर, केदार, त्रिलोचन और रामविलास शर्मा की कविताओ म प्रकृति, प्रेम और सौन्दय के प्रति जनवादी दृष्टि व्यक्त हुई है। मनुष्य की मनुष्यता के विकास से प्रकृति, प्रेम और सौन्दय का गहरा सम्बन्ध है इसलिए इनको व्यक्तिवादी स्वच्छन्दतावादियो के लिए नही छोडा जा सकता। निश्चय ही इन विषयो के सम्बन्ध मे एक जनवादी कवि का दृष्टिकोण वही नही होगा जो व्यक्तिवादियो का होता है। अधिकाश नये प्रगतिशील कवि शायद यह समझते है कि कवल राजनीतिक कविता ही जनवादी कविता हो सकती है। यह ठीक है कि हिन्दी मे व्यक्तिवादी और अराजकतावादी कवियो ने प्रेम और सौन्दय की कविता के नाम पर अपनी कुण्ठा, मानसिक विकृति और कामुकता का ऐसा प्रदशन किया है जहा आदमी और जानवर का फक मिट गया लगता है। अकवितावादियो के हाथो मे पडकर ये विषय इतने बदनाम हो गए हैं कि कोई भी जनवादी कवि इधर कदम बढाने से डरता है। लेकिन अब इस बात की जरूरत है कि साहस और सयम के साथ आगे बढकर प्रकृति, प्रेम और सौन्दय के मानवीय रूप की अभिव्यक्ति कविता मे की जाय।

समकालीन प्रगतिशील कविताओ मे व्यक्त होने वाले अनुभव के स्वरूप पर अगर विचार करें तो यह मालूम होगा कि वह या तो एकपक्षीय होता है या अत्यन्त सरलीकृत। कुछ कविताओ मे जीवनानुभव इतना सरल होता है कि वतमान जीवन की जटिलता का बोध ही नही होता, तो कुछ दूसरी कविताए उलझे यथाथ बोध के कारण जटिलता से आक्रात होकर पहेली बन जाती हैं। अधिकाश कविताओ मे जीवन की वास्तविकता के अनुपस्थित होने के कारण भाव और विचार अमूत्त और निराधार प्रतीत होते हैं। जिन कविताओ मे जन जीवन की वास्तविकता और जनता की चेतना की हलचल का प्रामाणिक चित्रण नहीं होगा उनसे जनता की चेतना को बदलने की आशा करना व्यथ है। कविता म जनता के जीवन के जटिल यथाथ की समग्रता का चित्रण तभी होगा जब कवि को उसका बोध होगा। जनता के जीवन के जटिल यथाथ के बोध का तात्पय है जनता के जीवन और उसकी चेतना के अन्त विरोधो की सही पहचान। इन अन्तर्विरोधो की पहचान के अभाव के कारण ही कविता मे कही झूठा आशावाद प्रकट होता है और कहीं निराशावाद। जहा सामाजिक राजनीतिक सघष जनता का मुक्ति-सघष एक निश्चित दिशा और रूप म प्राप्त कर रहा हो वहा जनता के सामाजिक जीवन और चेतना

के अतर्विरोधो की पहचान करना कठिन होता है। किसी जनवादी कवि के लिए यह आवश्यक है कि वह अतर्विरोधो को देखे और उनके बीच से विकसित होनेवाली एकता को भी। समाज और जनता की चेतना का विकास विरुद्धो के सघर्ष से होता है। एक जनवादी कवि समाज और जनता की चेतना मे चलनेवाले विरुद्धो के सघर्ष का चित्रण करता है और तभी जनता ऐसी कविता के माध्यम से अपने जीवन की वास्तविकता का व्यापक सदर्भों के साथ बोध प्राप्त करती है। कविता के माध्यम से जनता की चेतना को जगाने उसे आत्म चेतन और वर्गचेतन बनाने का यही तरीका है। इस प्रकार की रचनाशीलता के लिए यह जरूरी है कि रचनाकार अपने यथार्थ बोध को निरतर विकसित करता रहे, वह अपने बोध को नये अनुभवो से विकसित करे और अनुभवो को अपनी विश्व दृष्टि से व्यवस्थित करता रहे। यह तभी सभव है जब रचनाकार जन-जीवन से निरतर गहरा सम्पर्क बनाये रखे।

ओमप्रकाश ग्रेवाल ने अपने निबध मे जनवादी कविता के रूप पक्ष पर अधिक ध्यान नही दिया है। इस सदर्भ मे लोकप्रियता और कलात्मक श्रेष्ठता के सम्बध पर विचार होना चाहिए। जनवादी कविता को आभिजात्य कविता के रूप सबधी आदर्शों के मोह से मुक्त होना होगा उसे कविता के रूप सम्बधी रहस्यवाद को तोडना होगा। बुर्जुआ कला और सस्कृति से बेहतर जनवादी कला और सस्कृति के निर्माण के नाम पर जनवादी कवियो को लोकप्रियता की उपेक्षा नही करनी चाहिए। कविता के लोकप्रिय रूप के अल्प विकसित होने के कारण ही प्रगतिशील कविता अभी तक निम्नमध्यवर्गों के पाठको तक ही पहुच पाती है। ओमप्रकाश ग्रेवाल ने लिखा है कि अधिकाश प्रगतिशील कवि निम्नमध्यवर्ग के हैं। यह सच है। लेकिन उनके पाठक किस वर्ग के हैं? क्या उनके पाठक भी निम्नमध्यवर्ग के नही हैं? यह एक सच्चाई है कि जनवादी कविता की यात्रा निम्नमध्यवर्ग से निम्नमध्यवर्ग तक सीमित है। जनवादी कविता के सीमित पाठक और सीमित प्रभाव का एक कारण लोकप्रियता की उपेक्षा भी है। आज जनवादी कविता के विकास के लिए यह जरूरी है कि उसकी अभिव्यजना शक्ति को कायम रखते हुए उसे सहज, बोधगम्य और लोकप्रिय बनाया जाय। इस प्रसग मे यह भी विचारणीय है कि जनवादी कविता को लोकप्रिय बनाने के लिए उसमे लिखित रूप के साथ साथ मौखिक रूप को भी विकसित करना उचित है या नही? ब्रेख्त, नरूदा और मायकोवस्की जैसे जनवादी कवियो ने कविता की कलात्मकता को सुरक्षित रखते हुए उसके मौखिक रूप को विकसित किया है, कविता के सामूहिक अनुभव को सभव बनाया है। कविता को लोकप्रिय बनाकर ही 'अभिप्राय और प्रभाव की एकता' कायम की जा सकती है।

भक्तियुगीन कविता की लोकधर्मिता

शुनह मानुष भाई
शबारे उपर मानुष सत्य
ताहार उपर नाई ।[1]

चंडीदास का यह कथन भक्तिकालीन कविता की मूल चेतना की मानवतावादी प्रवृत्ति की उद्घोषणा है। 'मनुष्य सत्य' के प्रति आस्थावान भक्तकवि मानव जगत के विविध रूपों के भीतर ही अपनी आस्था के प्रसार का अवसर देखता है। मानवजीवन और मानवमन की प्रकृत, विकृत और संस्कृत अवस्थाओं की परख, पहचान और साक्षात्कार के सहारे ही वह मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियों के उदात्तीकरण का प्रयास करता है। सबसे बड़ी बात यह है कि भक्तकवि मनुष्य को हेय नहीं समझता, वह उसे तिरस्कृत नहीं करता बल्कि मनुष्य की विकासशीलता की अपार संभावनाओं में उसका गहरा विश्वास है। मानवमन के रागात्मक और बोधात्मक की लीलाओं का सौंदर्य भक्तिकाव्य में है। भक्तिकाव्य में मानवमन की इच्छा, क्रिया और ज्ञान की वृत्तियों की क्रियाशीलता है और मानवजीवन के भावपक्ष, कर्मपक्ष और ज्ञानपक्ष का सौंदर्य है। भक्तिकाव्य मानवजीवन की समग्रता का काव्य है, उसमें भाव, कर्म और ज्ञान का समन्वित विकास दिखाई देता है। कबीर जैसे संतकवियों के काव्य में उस युग के सामाजिक जीवन की वास्तविकता का बोध प्रबल है, उनकी कविता में केवल आध्यात्मिकता ही नहीं है। कबीर जीवन के अनुभव को मनुष्य के लिए आवश्यक मानते हैं शास्त्रज्ञान को नहीं। कबीर की कविता शास्त्रीयता के ऊपर लोकजीवन के अनुभव की प्रतिष्ठा की कविता है। कबीर के राम और प्रेम के उद्गम और लीला की भूमि लोकजीवन ही है कहीं और नहीं। जायसी के काव्य में 'इश्क मजाजी से इश्क हकीकी' की ओर की गई यात्रा है। उस यात्रा के मार्ग में संपूर्ण लोकजीवन का भावसौन्दर्य है जिसे प्रेममार्गी कवि आँख खोलकर पूरी तरह देखता है बार-बार तन्मय होता है वह जीवनजगत से आँख मूँदकर अपनी मंजिल की ओर नहीं बढ़ता। सूरदास के कृष्ण की लीलाभूमि हमारे जीवन के आसपास की ब्रजभूमि है जहाँ कृष्ण की मनोरम बालक्रीड़ाओं से लेकर रसमयी रासलीलाओं का सौन्दर्य है। उन लीलाओं में प्रत्येक मनुष्य अपने बचपन

स लेकर यौवन तक की जीवन यात्रा के रागात्मक सबधो का सौदय वात्सल्य, सख्य और माधुय आदि भावो के आत्मीय रूप म देख सकता है। 'सियाराममय सब जग जानी' कहकर भक्तकवि इस जगत की सत्यता को ही स्वीकार ही नही करता, बल्कि वह 'लोकमगल की साधना' को अपने ईश्वर की आराधना मानता है। उसका ईश्वर लोकजीवन मे परे नही है। तुलसी अपने राम के 'शक्ति, शील और सौंदय' का साक्षात्कार लोकजीवन के विविध रूपो मे करते हैं। 'राम' के मानवोचित व्यवहारो मे ही रामचरितमानस के नायक के चरित्र का सौंदय व्यक्त हुआ है। रामचरितमानस की कलात्मक श्रेष्ठता और उसके प्रभाव की व्यापकता का रहस्य उसके चरित्रो, जीवन व्यवहारो जीवन मूल्यो और भावो की मानवीयता मे है न कि उसकी धार्मिकता म। भक्तिकाव्य का अधिकाश मुख्यत मानवीय करुणा और प्रेम का काव्य है। मानवजीवन मे करुणा और प्रेम की आवश्यकता का स्थायित्व ही भक्तिकाव्य के स्थायित्व का कारण है और यही उसकी साथकता का आधार भी है।

भक्तिकाल के कवि लोकजीवन की चिंता करनेवाले कवि थे। जिन्हे जगतगति नही व्यापती, ऐसे आत्मलीन लोगो को तुलसीदास ने 'मूढ कहा है। इस प्रकार की मूढता' या आत्ममुग्धता से उत्पन्न सुख म जीनेवाले लोग तुलसी के व्यग्य की मार के शिकार हुए है। जीवन की समग्रता को स्वीकार करनेवाले सूरदास की गोपियो न मानवीय मनोरागो की गतिविधि से अपरिचित, नीरस ज्ञान के बोझ ढोनेवाले ज्ञानिया की खबर लेते हुए ही उद्धव से कहा था

ऊधो, तुम हो अति बड भागी।
अपरस रहत सनेह तगाते,
नाहि न मन अनुरागी।[2]

भक्तकवि आत्मबद्धता को नही आत्मविस्तार को काव्य मानत हैं। जो व्यक्ति अपने परिवेश के प्रति सजग और जाग्रत होगा वह इस दुनिया की दशा देखकर बेचैन ही होगा। कबीर अपन परिवश के प्रति ऐसे ही जागरूक कवि थे। उन्होन लिखा है

सुखिया सब ससार है, खावे अरु सोव।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोव।[3]

कठिनाइ यही नही है कि जागरूक सवेदनशील कवि दुनिया की ट्रैजिक दशा देखकर बेचैन होता है। कठिनाई और बेचैनी का एक कारण सवादहीनता की वह स्थिति भी है जहाँ कवि क हृदय की बात, उसकी अनुभूति और बचनी का कोई नि सशय होकर सुनता ही नही, जो सुनता है वह समझने और स्वीकारन

जब वे 'ज्ञान की आधी' की चर्चा करते हैं तो गाव के गरीबो की टूटी-फूटी झापडी साकार हो उठती है। प्रेममार्गी कवि जायसी महल मे भी झापडी को भूल नही पाते हैं। रानी नागमती जब कहती है कि 'हो बिनु नाह मदिर को छाबा' तो पाठक का ध्यान महारानी नागमती के महल से हटकर दूर गाव के गरीब की उस झापडी की तरफ जाता है जिसे हर बरसात मे छाना पडता है। लोकजीवन से गहरी आत्मीयता का ही यह परिणाम है कि जायसी महल के चकाचौंध मे खो नही जाते, ग्रामीण जीवन की मार्मिक दशा की स्मृति उनके मन पर छाई रहती है। कुछ लोगो को नागमती की जीवन दशा और इस भावदशा मे असगति दिखाई दे सकती है। बरसात को लेकर महल मे रहने वाली महारानी की परेशानी बेतुकी लग सकती है लेकिन जायसी की मानवतावादी दृष्टि के कारण महारानी की यह भावदशा उस साधारण मानवी के स्तर पर लाकर अधिकाधिक लोगो की सहानुभूति और सद्भावना के योग्य बना कर साधारणीकरण की सभावना उत्पन्न करती है।

भक्तिकाल की कविता मे सामाजिक चेतना और युगबोध का एक स्तर ऐसा है जहा सवेदनशील कवि की चेतना सामाजिक विषमता पाखड, धार्मिक रूढिवाद और जनता की पीडित चेतना के बोध से बेचैन दिखाई देती है। कबीर की सामाजिक चेतना मे उस युग का जीवन प्रतिबिंबित हुआ है और उनकी विद्रोह भावना मे सामाजिक वेदना से मुक्ति की कामना प्रकट हुई है। कबीर ने हिंदू धर्म और इस्लाम की विकृतिया का पर्दाफाश किया है। हिंदू समाज और मुसलमाना के सामाजिक जीवन म धर्म के नाम पर फले पाखड, शोषण और अधविश्वासो का खडन किया है। कबीर की कविता मे एक सुधारवादी सदेश है, एक जनवादी चेतना भी है जिसे उस सामती समाज के सदर्भ मे क्रातिकारी कहा जा सकता है। कबीर की लोकचिंता से उत्पन्न कविता म एक समन्वित सस्कृति की सभावना पैदा हुई थी, उसमे दलित जातियो मे आत्मविश्वास जगा था। उस जमाने म वेद और शास्त्र के नाम पर धर्म के बहाने जनता का शोषण होता था। कबीर ने किताबी ज्ञान के बदले लोकजीवन के अनुभवा को उपयोगी और सार्थक बताते हुए शास्त्र और उस शास्त्र के सहारे होनेवाले शोषण पर चोट की। सूरदास ने सामती समाज के भोग-विलास म आकठ डूबे जीवन का चित्रण किया है। सूरदास ने कभी लद रूपका के सहारे और कभी उपमाओ उत्प्रेक्षाओ के रूप म उस काल के सामाजिक जीवन की वास्तविकता का चित्रण किया है। 'चौपरि जगत मडे जुग बीत' सूरदास का एक लबा पद है जिसमे उस समय के सुविधाभोगी मनुष्य के विलासमय जीवन की कहानी है। सूर के पदा मे उस समय के व्यापार व्यवहार, कृषि ग्रामप्रबध, राजदरबार, शासन-व्यवस्था और

युद्ध आदि का वणन तो है ही, उनके पदा मे सामाजिक सगठन, सस्कार औ त्योहारा के विविध रूप भी दिखाई देत हैं। सूर के पद उस युग क सास्कृतिक जीवन (धम, दसन, चित्रकला, सगीत, नत्य आदि।) क अक्षयकोष हैं।

भक्तिकाल के अधिकाश कवियो के सघपशील जीवन की कहानी लगभग वही है जो तुलसीदास की है बारे तें ललात बिललात द्वार द्वार दीन, जानत हा चारि फल चारि ही चनक को। इन कवियो का अपना सघपशील जीवन साधारण जनता के सघपशील जीनन से उनका तादात्म्य स्थापित कराने मे सहायक सिद्ध हुआ। ये कवि अपने जीवन म जनता के जीवन का प्रतिनिधित्व देस सक्ते थे और जनता के जीवन म अपने जीवन की समशीलता पहचानत थ। तुलसीदास वण व्यवस्था के समथक मान जात है, लेकिन जातिप्रथा के जहर को उन्होने भोगा था इसलिए तीव्र आक्रोश मे उन्होने कहा

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब, काहू की जाति बिगार न सोऊ।

प्राय एसा माना जाता है कि तुलसी की कविता मे लोकसग्रह की भावना धार्मिक आवरणो मे ही व्यक्त हुई है, लेकिन तुलसी ने अपने युग के नग्न यथाथ को गहरी सवेदना और आत्मिक वेदना के साथ चुभती हुई भाषा म प्रभावी ढग से व्यक्त किया है इस बात पर ध्यान नही दिया जाता। तुलसीदास ने अकाल, भुखमरी, बेरोजगारी और महामारी की विपत्ति की विभीषिका से बेचैन जनता की दशा का जो कारुणिक चित्र खीचा है उससे तुलसी की सामाजिक चेतना यथाथ भावना और मानवीय चिंता का बोध तो होता ही है उससे यह भी साबित होता है कि वैभव, विलासिता और सौंदर्योपासना के उस मुगल काल मे सब कुछ ठीकठाक न था आम जनता के जीवन म अकाल भुखमरी, बेरोजगारी और महामारी का ही साम्राज्य था। शासक सौंदय के लास्य का आस्वादन कर रहे थे और जनता मौत के ताडव को भयभीत कातर नजरो से देख रही थी। तुलसीदास ने लिखा है

किसबी किसान-कुल, बनिक भिखारी, भाट
चाकर चपल नट चोर चार चेट की।
पट को पढत गुन गढत चढ़त गिरि
अटत गहन गन अहन अखेत की॥
ऊच नीच करम धरम अधरम करि
पेट ही को पचत बचत बेटा-बेटकी॥'

तुलसी न यह भी लिखा है

खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि
बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

जीविका विहीन लोग सीद्यमान सोच बस,
कहैं एक एकन सो कहा जाई, का कही" ॥*

उस युग म एक ओर शासकवग भोग विलास म डूब उतरा रहा था और दूसरी ओर जनता सारे ऊच नीच कम और धम-अधम करन के बाद भी जब पेट की आग बुझाने मे असमथ होती थी तो उसे बेटा बेटी तक बेचना पडता था। बेटा-बेटी बेच कर पेट की आग बुझाने की जनता की असमथता का चित्रण करके तुलसीदास ने उस सामती समाज के अमानवीय यथाथ को साकार कर दिया है। यह है उस मुगलकालीन सामती व्यवस्था मे आम जनता के जीवन का असली चित्र, जिस समाज व्यवस्था को स्वणयुग कह कर कुछ लोग आज भी आत्मविभोर हो उठते है। तुलसी ने उस समाज व्यवस्था द्वारा शोषित आम जनता का जो चित्र खीचा है उसके प्रकाश मे इतिहासकारो और समाजशास्त्रियो को मध्यकाल सबधी अपने विचारो पर पुनर्विचार करना चाहिए।

भक्तिकाल केवल कविता के आदोलन का ही काल नही है, वह एक नये धार्मिक आदोलन का भी काल है। दूसरे शब्दो म यह एक ऐसा धार्मिक आदोलन है जिसकी अभिव्यजना कविता और दूसरी ललित कलाओ म हुई है। इसकी काव्यचेतना धमभावना से प्रभावित और अनुशासित हुई है। इस युग की कविता पर विचार करते समय कविता और धार्मिक विचारधारा के सबध पर भी विचार करना आवश्यक है। भक्तिकाल की सपूर्ण कविता को पूर्णत धार्मिक नही कहा जा सकता। उसम ऐसी कविता भी है जिसम धर्म के सिद्धात और आचरण का छदोबद्ध व्याख्यान मात्र है और उसे वैसे ही कविता नही कहा जा सकता जैसे छदोबद्ध पाकशास्त्र या कामशास्त्र को। भक्तिकाल की उस कविता को सच्ची कविता कहा जा सकता है जिसमे मानवीय सवेदनशीलता को जगाने और परिष्कृत करने की क्षमता है। भक्ति आदोलन मे निर्मित धर्म का स्वरूप लोकधर्म का था। निगुण सतो की धर्मभावना तो शास्त्रीयता का खडन करती हुई ही आगे बढी थी। सगुण भक्ति की कृष्णभक्तिधारा मे भी भक्ति का शास्त्रीय रूप बाद म बना। कृष्णभक्तिधारा के श्रेष्ठ कवि सूरदास का काव्य भक्तिशास्त्र के बधनो से मुक्त ही है, भले ही कुछ शास्त्र प्रेमी आलोचक उसकी शास्त्रीय व्याख्या करके अपनी आस्था को सतुष्ट करते रहें। भक्ति की लोकधर्मिता के कारण ही भक्तिकवि 'लोकहृदय' की पहचान कर सके जिसम उनकी कविता लोकहृदय की स्थाई निधि बन गई।

भक्तिकालीन कविता मे वैराग्य है तो जीवन के प्रति अनुराग भी है, उसमे परलोकवाद है तो लोकजीवन की विविधता का सौंदय भी है, निवृत्ति मूलक कामना है तो प्रवृतिपरक जीवनप्रेम भी है रहस्यवाद है तो सामाजिक चेतना भी है, मिथकीय चेतना और [illegible] है तो जीवन के यथार्थ का भ

है। कबीर, सूर और तुलसी की कविता मे यह कल्पनालोक किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। इस रहस्यमय स्वप्नलोक की स्मृति बार बार इस वास्तविक जीवन की अभावमयी परिस्थिति की ओर सकेत करती है। कबीर जब कहते हैं कि 'जाना नही देस विराना है' तो यह जाहिर होता है कि भक्तकवि की कामना इसी लोकजीवन को अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने की है। सामाजिक जीवन मे जो भेदभाव, विषमता और वेदना है, उससे मुक्ति के लिए ही कवि रहस्यमय कल्पनालोक मे आध्यात्मिक स्तर पर एकता अभेद, समता और आनद की कामना करता है। लेकिन कवि के इस आकाक्षाजनित विश्वास के मूल मे वह मिथ्या चेतना है जो धार्मिक विचारधारा की देन है। भक्तिकाल के भक्तकवि के चिंतन की सीमाए वास्तव मे मध्ययुगीन धार्मिक विचारधारा की सीमाए हैं, लेकिन भक्तकवि केवल भक्त ही नही, कवि भी है, इसलिए कविता का धम, धम की कविता के परे प्रभाव डालता है। जब धमभावना और कलाचेतना के सयोग से कलाकृति की रचना होती है तो कला का अपना धम ही प्रधान है, धर्म की कला नही। ऐसी स्थिति मे कला की सामाजिक भूमिका प्रमुख हो जाती है। दुनियाभर के धम मे अनुप्रेरित कलाकृतियो के अनुशीलन से यह सिद्ध हो सकता है। भक्ति हृदय का धम है इसलिए उसका सबध मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियो और अनुभूतियो से है और यही कविता का निजी क्षेत्र भी है। भक्तकवि जब मानवीय अनुभूतियो की व्यजना करता है तो पाठक उन अनुभूतियो से ही प्रभावित होना है, धमभावना बहुत पीछे छूट जाती है। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह भी है कि भक्तिकालीन कविता मे व्यक्त विचारो का महत्व क्या है ? भक्त कवि भी यह स्वीकार करता है कि कविता मे विचार की केंद्रीय स्थिति होती है। तुलसीदास न लिखा है

> हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
> जो वरष वर वारि विचारु। होंहि कवित मुकुतामनि चारु ॥[10]

तुलसीदास न यहा कविता के तत्वो की ओर ही सकेत नही किया है उन्होने कविता की निमाण प्रक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। ध्यान दने की बात है कि भाव के भीतर बुद्धि की स्थिति है जिसम प्रेरणा के आगमन और सुदर विचारो की वर्षा स कविता मुक्ता की उत्पत्ति होती है। तुलसीदास भावभावित विचारो को ही कविता के लिए आवश्यक मानते हैं, केवल बुद्धिबोधित विचारो को नही। इस प्रकार कविता मे अनुभूत विचारो की साथकता तुलसी ने स्वीकार की है। तुलसी के इस काव्यचिंतन के प्रकाश मे यह कहा जा सकता है कि भक्ति काव्य म व्यक्त अनुभूत विचारो को ही कविता के अनिवाय अग के रूप मे स्वीकार किया जा सकता है कोरे उपदेशो या विचारधारात्मक व्याख्यानो को नही। कविता के सदभ मे विचार और विचारधारा मे फक करना जरूरी है।

बोध भी है ईश्वर के मनुष्यत्व का बोध है तो मनुष्य का ईश्वरत्व भी है जीवन से संन्यास है तो गृहस्थजीवन के पारिवारिक संबंधों का चित्रण भी है, विपर्यस्त विश्वचेतना और मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति है तो जगतबोध और आत्मबोध की एकता भी है। उसमें सांसारिक जीवन की निरर्थकता का वर्णन है तो जन्म से लेकर मृत्यु तक के मानवजीवन के भाव कर्म और ज्ञानपक्ष का चित्रण भी है। तात्पर्य यह है कि भक्तिकाल में धार्मिक विवेक और जगत विवेक में एकता और अंतर्विरोध का संबंध बार बार प्रकट होता है। आज का मनुष्य निश्चय ही उस कविता में व्यक्त जगतविवेक को ही महत्व देगा, धार्मिक विवेक को नहीं। भक्तिकालीन कविता में मानवजीवन का यथार्थ धार्मिक विचारधारा की अंतर्विरोधी स्थितियों को पार कर बार बार अपने काव्यात्मक सौंदर्य को प्रकट करता है। किसी भी विचारधारा से संबद्ध कवि की मूल चिंता का विषय मानवजीवन का यथार्थ ही है। कवि के लिए यह आवश्यक है कि उसे मानवजीवन के यथार्थ की चेतना और चिंता हो। भक्तिकालीन कविता में कविता का सौंदर्य वहीं है जहां मानवजीवन का यथार्थ है। जहां कविता में मानवजीवन का यथार्थ धार्मिक विचारधारा से मुक्त होकर ज्ञानसंवेदनात्मक बोध के फलस्वरूप व्यक्त हुआ है वहां काव्यात्मकता है लेकिन जहां यथार्थबोध धार्मिक विचारधारा से आक्रांत है वहां यथार्थ का विपर्यस्त रूप है या कोरा उपदेश है।

मध्यकाल की धर्मभावना सामंती समाज व्यवस्था की उपज है। धर्म मध्ययुग के सामंती समाज का एक प्रमुख विचारधारात्मक रूप रहा है। धर्म के विचारधारात्मक रूप की सामाजिक जीवन में केवल नकारात्मक भूमिका नहीं होती, उसकी सकारात्मक भूमिका भी रही है। मार्क्स ने लिखा है 'धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है। धर्म पीड़ित प्राणियों की आह है वह एक हृदयहीन दुनिया का हृदय है और वह आत्माविहीन परिस्थितियों की अंतरात्मा है।' मार्क्स के इस कथन के आधार पर अगर भक्तिकालीन धर्मभावना और कविता के आपसी संबंधों पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भक्तिकालीन कविता में दैन्य और वेदना का भाव है उसमें सामंती समाज में जीनेवाली जनता की वास्तविक वेदना की व्यंजना है और उस वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी। कबीर की कविता में जो विद्रोह भावना है वह समाज की वास्तविक वेदना के ही बोध का परिणाम है। सामंती समाज के बंधनों से मुक्ति के प्रयास का एक रूप निर्गुण निराकार की उपासना में मिल सकता है जहां समता और स्वतंत्रता की संभावना है। सामंती समाज की गुलामी से परेशान भक्तकवि एक ऐसे कल्पना लोक की कामना करता है जहां प्रेम, सौंदर्य समता और स्वतंत्रता की ही सत्ता

है। कबीर, सूर और तुलसी की कवितामे यह कल्पनालोक किसी न किसी रूप मे विद्यमान है। इस रहस्यमय स्वप्नलोक की स्मृति बार-बार इस वास्तविक जीवन की अभावमयी परिस्थिति की ओर सकेत करती है। कबीर जब कहते हैं कि 'जाना नही देस विराना है' तो यह जाहिर होता है कि भक्तकवि की कामना इसी लोकजीवन को अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने की है। सामाजिक जीवन मे जो भेदभाव, विषमता और वेदना है, उससे मुक्ति के लिए ही कवि रहस्यमय कल्पनालोक मे आध्यात्मिक स्तर पर एकता, अभेद, समता और आनद की कामना करता है। लेकिन कवि के इस आकाक्षाजनित विश्वास के मूल मे वह मिथ्या चेतना है जो धार्मिक विचारधारा की देन है। भक्तिकाल के भक्तकवि के चिंतन की सीमाए वास्तव म मध्ययुगीन धार्मिक विचारधारा की सीमाए हैं, लेकिन भक्तकवि केवल भक्त ही नही, कवि भी है, इसलिए कविता का धम, धम की कविता के परे प्रभाव डालता है। जब धमभावना और कलाचेतना के सयोग से कलाकृति की रचना होती है तो कला का अपना धम ही प्रधान है, धम की कला नही। ऐसी स्थिति मे कला की सामाजिक भूमिका प्रमुख हो जाती है। दुनियाभर के धम से अनुप्रेरित कलाकृतियो के अनुशीलन से यह सिद्ध हो सकता है। भक्ति हृदय का धम है इसलिए उसका सबध मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियो और अनुभूतियो से है और यही कविता का निजी क्षेत्र भी है। भक्तकवि जब मानवीय अनुभूतियो की व्यजना करता है तो पाठक उन अनुभूतियो से ही प्रभावित होता है, धमभावना बहुत पीछे छूट जाती है। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह भी है कि भक्तिकालीन कविता मे व्यक्त विचारो का महत्त्व क्या है? भक्त कवि भी यह स्वीकार करता है कि कविता मे विचार की केंद्रीय स्थिति होती है। तुलसीदास ने लिखा है

> हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ॥
> जौ बरष बर बारि विचारू। होंहि कवित मुकुतामनि चारू ॥[10]

तुलसीदास न यहा कविता के तत्त्वो की ओर ही सकेत नही किया है उन्होन कविता की निर्माण प्रक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। ध्यान देने की बात है कि भाव के भीतर बुद्धि की स्थिति है जिसमे प्रेरणा के आगमन और सुदर विचारो की वर्षा स कविता मुक्ता की उत्पत्ति होती है। तुलसीदास भावभावित विचारो को ही कविता के लिए आवश्यक मानते हैं केवल बुद्धिबोधित विचारो को नही। इस प्रकार कविता मे अनुभूत विचारो की साथकता तुलसी ने स्वीकार की है। तुलसी के इस काव्यचिंतन के प्रकाश मे यह कहा जा सकता है कि भक्ति काव्य में व्यक्त अनुभूत विचारो को ही कविता के अनिवाय अग के रूप म स्वीकार किया जा सकता है कोरे उपदशो या विचारधारात्मक व्याख्याना को नही। कविता के सदभ म विचार और विचारधारा म फक करना जरूरी है।

बोध भी है, ईश्वर के मनुष्यत्व का बोध है तो मनुष्य का ईश्वरत्व भी है जीवन से सन्यास है तो गृहस्थजीवन के पारिवारिक सदभो का चित्रण भी है, विपयस्त विश्वचेतना और मिथ्या चेतना की अभिव्यक्ति है तो जगतबोध और आत्मबोध की एकता भी है। उसम सासारिक जीवन की निरथकता का वणन है तो जन्म से लेकर मत्यु तक के मानवजीवन के भाव कम और ज्ञानपक्ष—का चित्रण भी है। तात्पय यह है कि भक्तिकाल म धार्मिक विवक और जगत विवेक मे एकता और अतर्विरोध का सबध बार बार प्रकट होता है। आज का मनुष्य निश्चय ही उस कविता म व्यक्त जगतविवेक को ही महत्त्व देगा, धार्मिक विवेक को नही। भक्तिकालीन कविता म मानवजीवन का यथाथ धार्मिक विचारधारा की अतर्विरोधी स्थितिया को पार कर बार बार अपन काव्यात्मक सौंदय को प्रकट करता है। किसी भी विचारधारा स सबद्ध कवि की मूल चिता का विषय मानवजीवन का यथाथ ही है। कवि के लिए यह आवश्यक है कि उसे मानवजीवन के यथाथ की चेतना और चिता हो। भक्तिकालीन कविता मे कविता का सौंदय वही है जहा मानवजीवन का यथाथ है। जहा कविता मे मानवजीवन का यथाथ धार्मिक विचारधारा म मुक्त होकर ज्ञान सवेदनात्मक बोध के फलस्वरूप व्यक्त हुआ है वहा काव्यात्मकता है, लेकिन जहा यथाथबोध धार्मिक विचारधारा स आक्रात है वहा यथाथ का विपयस्त रूप है या कोरा उपदेश है।

मध्यकाल की धमभावना सामती समाज व्यवस्था की उपज है। धम मध्ययुग के सामती समाज का एक प्रमुख विचारधारात्मक रूप रहा है। धम के विचारधारात्मक रूप की सामाजिक जीवन म केवल नकारात्मक भूमिका नही होती उसकी सकारात्मक भूमिका भी रही है। मार्क्स ने लिखा है 'धार्मिक वेदना एक साथ ही वास्तविक वेदना की अभिव्यक्ति और वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी है। धम पीडित प्राणियो की आह है वह एक हृदयहीन दुनिया का हृदय है और वह आत्माविहीन परिस्थितियो की अतरात्मा है।' मार्क्स के इस कथन के आलोक म अगर भक्तिकालीन धमभावना और कविता के आपसी सबधो पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भक्तिकालीन कविता म दैन्य और वेदना का भाव है उसमे सामती समाज मे जीनेवाली जनता की वास्तविक वेदना की व्यजना है और उस वास्तविक वेदना के विरुद्ध विद्रोह भी। कबीर की कविता मे जो विद्रोह भावना है वह समाज की वास्तविक वेदना के ही बोध का परिणाम है। सामती समाज के बधनो से मुक्ति के प्रयास का एक रूप निगुण निराकार की उपासना मे मिल सकता है जहा समता और स्वतत्रता की सभावना है। सामती समाज की गुलामी से परेशान भक्तकवि एक ऐसे कल्पना लोक की कामना करता है जहा प्रेम सौंदय समता और स्वतत्रता की ही सत्ता

है। कबीर, सूर और तुलसी की कविताओं में यह कल्पनालोक किसी न किसी रूप में विद्यमान है। इस रहस्यमय स्वप्नलोक की स्मृति बार-बार इस वास्तविक जीवन की अभावमयी परिस्थिति की ओर संकेत करती है। कबीर जब कहते हैं कि 'जाना नहीं देस विराना है' तो यह जाहिर होता है कि भक्तकवि की कामना इसी लोकजीवन को अपनी कल्पना के अनुरूप बनाने की है। सामाजिक जीवन में जो भेदभाव, विषमता और वेदना है, उससे मुक्ति के लिए ही कवि रहस्यमय कल्पनालोक में आध्यात्मिक स्तर पर एकता, अभेद, समता और आनंद की कामना करता है। लेकिन कवि के इस आकांक्षाजनित विश्वास के मूल में वह मिथ्या चेतना है जो धार्मिक विचारधारा की देन है। भक्तिकाल के भक्तकवि के चिंतन की सीमाएं वास्तव में मध्ययुगीन धार्मिक विचारधारा की सीमाएं हैं, लेकिन भक्तकवि केवल भक्त ही नहीं, कवि भी है, इसलिए कविता का धर्म, धर्म की कविता के परे प्रभाव डालता है। जब धर्मभावना और कलाचेतना के संयोग से कलाकृति की रचना होती है तो कला का अपना धर्म ही प्रधान है, धर्म की कला नहीं। ऐसी स्थिति में कला की सामाजिक भूमिका प्रमुख हो जाती है। दुनियाभर के धर्म से अनुप्रेरित कलाकृतियों के अनुशीलन से यह सिद्ध हो सकता है। भक्ति हृदय का धर्म है इसलिए उसका संबंध मनुष्य की रागात्मिका वृत्तियों और अनुभूतियों से है और यही कविता का निजी क्षेत्र भी है। भक्तकवि जब मानवीय अनुभूतियों की व्यंजना करता है तो पाठक उन अनुभूतियों से ही प्रभावित होता है, धर्मभावना बहुत पीछे छूट जाती है। लेकिन विचारणीय प्रश्न यह भी है कि भक्तिकालीन कविता में व्यक्त विचारों का महत्त्व क्या है? भक्त-कवि भी यह स्वीकार करता है कि कविता में विचार की केंद्रीय स्थिति होती है। तुलसीदास ने लिखा है

> हृदय सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
>
> जौं बरषइ बर बारि बिचारू। होहिं कबित मुकुतामनि चारू॥[20]

तुलसीदास ने यहाँ कविता के तत्त्वों की ओर ही संकेत नहीं किया है, उन्होंने कविता की निर्माण प्रक्रिया का भी स्पष्ट उल्लेख किया है। ध्यान देने की बात है कि भाव के भीतर बुद्धि की स्थिति है जिसमें प्रेरणा के आगमन और सुंदर विचारों की वर्षा से कविता मुक्ता की उत्पत्ति होती है। तुलसीदास भावभावित विचारों को ही कविता के लिए आवश्यक मानते हैं केवल बुद्धिबोधित विचारों को नहीं। इस प्रकार कविता में अनुभूत विचारों की सार्थकता तुलसी ने स्वीकार की है। तुलसी के इस काव्यचिंतन के प्रकाश में यह कहा जा सकता है कि भक्ति काव्य में व्यक्त अनुभूत विचारों को ही कविता के अनिवार्य अंग के रूप में स्वीकार किया जा सकता है कोरे उपदेशों या विचारधारात्मक व्याख्यानों को नहीं। कविता के संदर्भ में विचार और विचारधारा में फर्क करना जरूरी है।

कवि की विचारधारा और कृति के कलात्मक ज्ञानात्मक मूल्य का सबध अविरोधी और अतर्विरोधी दोनो प्रकार का होता है। कृति का कलात्मक ज्ञानात्मक मूल्य कृति मे व्यक्त मानव जीवन के यथार्थ के स्वरूप पर निर्भर करता है।

भारत के सास्कृतिक इतिहास मे मध्यकाल का भक्ति आदोलन केवल भक्ति और कविता का ही आदोलन नही है बल्कि वह एक अखिल भारतीय सास्कृतिक पुर्जागरण का आदोलन है। आदोलन सुदूर दक्षिण के तमिलनाडु से लेकर आसाम तक फैला हुआ था। यह चौदहवी शताब्दी से अठारहवी शताब्दी तक व्याप्त लगभग चार सौ वर्षों का व्यापक आदोलन है। इसके दौरान भारतीय धर्म, दर्शन, कला, साहित्य और भाषा के क्षेत्र मे नवीन चितन, मौलिक सर्जन और क्रातिकारी परिवर्तन हुए। भक्ति आदोलन को मुख्यत धर्म और कविता के आदोलन के रूप मे समझने के प्रयास हुए है लेकिन कविता के अतिरिक्त दूसरी ललित कलाओ और भाषा के क्षेत्र मे मूलगामी परिवर्तनो की ओर कम ध्यान दिया गया है। यह भी विचारणीय है कि सामाजिक परिस्थितियो के महान ऐतिहासिक उथल पुथल के कारण ही जनता के विचार और दृष्टिकोणो मे परिवर्तन होता है जिसके कारण जनता के धार्मिक विचारो मे क्रातिकारी बदलाव आता है। भक्ति आदोलन के स्वरूप और कारणो की पहचान के लिए यह आवश्यक है कि मध्यकाल की सामाजिक परिस्थितियो के ऐतिहासिक बदलाव का विवेचन किया जाए। सास्कृतिक रूपो मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन सामाजिक परिस्थितियो के आधारभूत परिवर्तन से ही उत्पन्न और प्रभावित होते है। मध्यकाल की सामाजिक परिस्थितियो के ऐतिहासिक परिवर्तन सास्कृतिक रूपो के परिवर्तन के सबधबोध के बिना यह समझना मुश्किल है कि भारतीय सस्कृति के हजारो वर्षों के इतिहास मे केवल भक्तिकाल मे ही पहली बार वर्ण व्यवस्था से पीडित दलितजातियो मे सर्जनात्मक शक्ति का ऐसा अभ्युदय क्यो हुआ ? कबीर, दादू रैदास आदि कवि भारत की उच्चवर्गीय सास्कृतिक परपरा के लिए चुनौती बन कर सामने आए। सगुण भक्ति की पुराणमतवादी चिताधारा से सतकवियो की उदारवादी, सुधारवादी और विद्रोही चेतना का जो सघर्ष हुआ वह उच्चवर्ग और दलितवर्ग का सास्कृतिक सघर्ष भी था। उस सामती सामाजिक परिवेश मे उच्चवर्गीय सास्कृतिक विचारधारा की विजय हुई। इस काल मे सस्कृति की लोकधर्मी चेतना कविता और दूसरी कलाओ मे भी व्यक्त हुई। इस काल की विभिन्न ललित-कलाओ मे एक समन्वित लोकवादी कलाचेतना दिखाई देती है।

कविता के क्षेत्र मे भक्ति काव्य की सबसे बडी विशेषता यह दिखाई देती है कि उस सामती समाज मे उत्पन्न होकर भी कविता लोकाश्रयी हुई दरबाराश्रयी नही हुई। भक्तकवि लोकजीवन की अनुभूतियो के कवि थे,

सामन्ती दरबारो के सेवक नही। उनकी कविता मे लोकसस्कृति का सौदय है, दरबारी सस्कृति की अभिव्यक्ति नही। भक्तिकालीन कविता मे वेदमत, पुराणमत और सतमत से अधिक लोकमत की प्रधानता है। भक्तिकाल की कविता लोकभाषा मे लोकजीवन की कविता है। भक्तिकाव्य की लोकधर्मिता का ही प्रभाव है कि राजरानी मीरा विशिष्ट से सामान्य बन कर लोकहृदय से जुड गई। उस काल की कविता की लोकधर्मिता के प्रभाव के कारण ही अकबर शाह, शाह आलम और बहादुरशाह आदि मुगल सम्राटो ने भी ब्रजभाषा के गेय पदो की रचना कर जनता के स्वर मे स्वर मिलाने का प्रयत्न किया। आधुनिक भारतीय भाषाओ के विकास मे भक्तिकाव्य की भाषा सबधी देन का पर्याप्त मूल्याकन अभी नही हुआ है। दक्षिण के भक्तकवियो की कविता से दक्षिण की भाषाओ का आधुनिक रूप विकसित हुआ लेकिन उत्तर भारत के भक्तकवियो के बिना तो मैथिली, ब्रजभाषा, अवधी, गुजराती, राजस्थानी मराठी, उडिया, बगला और असमिया आदि भाषाओ का स्वरूप ही नही बनता। विद्यापति, सूरदास जायसी और तुलसीदास, नरसी मेहता, मीराबाई, नामदेव और तुकाराम, जगन्नाथदास, चण्डीदास और शकरदेव की कविता के आधार पर ही मैथिली, ब्रजभाषा, अवधी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, उडिया, बगला और असमिया का विकास हुआ। तेलगु के भक्तकवि पोतनामात्य, कन्नड के पुरदरदास और कनकदास का उन भाषाओ मे वही महत्त्व है जो हिन्दी मे कबीर, सूर और तुलसी का। इन कवियो न लोकजीवन की भाषा को काव्यभाषा के रूप म विकसित कर उसम भावो और विचारो की व्यजना की क्षमता उत्पन्न की। इन लोकभाषाओ के स्वरूप का निर्माण जनता न किया था लेकिन उन्हे काव्यभाषा का रूप इन कवियो ने ही दिया। भक्तिकाल के सत और भक्तकवियो ने कविता को सस्कृत के 'कूपजल' से निकाल कर लोकजीवन मे प्रवाहित लोकभाषाओ के स्वच्छ बहते नीर' से अभिसिचित किया। कबीर, सूर, जायसी और तुलसी आदि कवियो ने लोकभाषा की सृजनशीलता का ही भरपूर उपयोग नही किया, उन्होने लोकजीवन मे प्रचलित विभिन्न काव्यरूपो, छदो, कथाओ और कथानकरूढियो का भी सृजनात्मक उपयोग किया। यह सच है कि लोकप्रतिभा की सृजनशीलता का जो चरम उत्कप भक्तिकाव्य मे दिखाई देता है वह लोकजीवन स भक्त कवियो के पूण तादात्म्य का ही फल है।

सन्दर्भ

1 मुक्तिबोध नई कविता का आत्मसंघर्ष तथा अन्य निबंध' मे उद्धृत, विश्वभारती प्रकाशन, 9 64, पृष्ठ 89
2 'सूरसागर' श्यामकाशी प्रेस, मथुरा, प्रथम संस्करण, पृ० 207
3 'योजक , राम नारायण अग्रवाल, इलाहाबाद, 1954, पृष्ठ 310
4 वही, प० 326
5 'सूरसागर', पृ० 415
6 'कवितावली', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973 प० 157
7 'कवितावली , लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973, पृ० 151
8 वही
9 कार्ल मार्क्स तथा फ्रेडरिक एंगेल्स 'धर्म', एशिया पब्लिशर्स, लखनऊ, 1965, प० 51
10 'रामचरितमानस , गीताप्रेस गोरखपुर, स०2029, प० 18

साहित्य का समाजशास्त्र और मार्क्सवादी आलोचना

आजकल आलोचना के क्षेत्र म, पश्चिमी बुर्जुआ साहित्य चिन्तन के क्षेत्र मे, और उसके देखा देखी भारत मे भी, यह धारणा फैलायी जा रही है कि साहित्य और समाज के सम्ब ध विश्लेषण के लिए साहित्य का समाजशास्त्र माक्सवाद से अधिक वैज्ञानिक और उपयोगी अनुशासन है, और अन्तत साहित्य का समाजशास्त्र माक्सवादी साहित्य चिन्तन का स्थान ले लगा। इस प्रकार की धारणा के फैलाये जाने के अनेक कारण हैं। एक कारण तो यह है कि रूपवादियो की रूप-पूजा के प्रचार की लाख कोशिश के बावजूद धीरे धीरे साहित्य की सामाजिकता मे सामान्य पाठको और जनता की दिलचस्पी बढी है और 'कला के लिए कला' की साख समाप्त हो रही है। ऐसी स्थिति मे साहित्य जन मुक्ति के सघर्ष का एक सहायक साधन न बन जाय, इसके लिए बुर्जुआ व्यवस्था के हितैषियो के लिए यह जरूरी है कि वे साहित्य और समाज के सम्बन्ध की बात करते हुए भी उस सम्बन्ध के असली रूप को छिपायें और भ्रामक सम्ब धा की चर्चा फैलायें। दूसरा कारण यह है कि साहित्य और कला के सम्बन्ध म सामती दृष्टिकोण अब लगभग पराजित अवस्था मे है। अब साहित्य और कला की चर्चा मे अलौकिक, ईश्वरीय और आध्यात्मिक कारणो तथा प्रयोजना के लिए कोई जगह नहीं है। लेकिन साहित्य और कला के बारे म सामती दृष्टिकोण का स्थान क्रान्तिकारी चिंतन न ले ले, इसके लिए बुर्जुआ विचारक यह आवश्यक समझते है कि साहित्य-चिंतन को वैज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता के नाम पर ऐसी दिशा मे मोडा जाय कि साहित्य का क्रान्तिकारी प्रयोजन प्रकट न हो। तीसरा कारण यह है कि जैसे दुनियाभर का शोषक शासक वर्ग समाजवाद के नारे और समाज के योजनाबद्ध विकास की प्रणाली का दुरुपयोग अपनी शोषण की व्यवस्था बनाये रखने के लिए कर रहा है वैसे ही वह ऐसे विज्ञानो, शास्त्रो और चिंतन पद्धतियो का प्रचार-प्रसार कर रहा है जो ऊपर से समाजो मुख लगते हुए भी भीतर से जन विरोधी है। साहित्य का समाजशास्त्र भी जन चेतना को भ्रमित करने वाले बुर्जुआ वर्ग की चालाकी का एक रूप है।

साहित्य का समाजशास्त्र अपने जनक—समाजशास्त्र—के बुनियादी अनुशासन के प्रयोजन और पद्धति से एकदम स्वतन्त्र नहीं हो सकता। समाजशास्त्र सामाजिक सरचनाओ, सस्थाओ और व्यक्ति तथा समाज के सम्बन्ध के अध्ययन का एक अनुशासन है। वह इन सामाजिक सरचनाओ, सस्थाओ और

सम्ब धो को अधिक व्यवस्थित, कायकुशल उपयोगी और सहज बनाकर वतमान समाज व्यवस्था के वतमान को स्थायित्व प्रदान करना चाहता है। माक्सवाद का उद्देश्य इसके ठीक विपरीत शोषक व्यवस्था को समाप्त कर एक शोषण मुक्त समाज व्यवस्था का निमाण करना है। कोई भी विज्ञान या शास्त्र अगर मरणोन्मुख पूजीवादी समाज व्यवस्था को जिलाये रखने का प्रयास करता है तो वह मानव विरोधी है और माक्सवाद विरोधी भी। साहित्य का समाजशास्त्र, समाजशास्त्र के बुनियादी प्रयोजन और पद्धति का ही साहित्य चिंतन के क्षेत्र मे विस्तार है।

साहित्यानुशीलन की समाजशास्त्रीय पद्धति न केवल साहित्य की वास्तविक *सामाजिक प्रयोजनीयता* के उदघाटन म अक्षम है बल्कि वह साहित्य की अथवत्ता और साथकता के विश्लेषण मे भी कमजोर साबित होता है। यह कमजोरी उसे समाजशास्त्र से विरासत मे मिली है। समाजशास्त्र वज्ञानिकता और वस्तुनिष्ठता के नाम पर मूल्य मुक्तता की वकालत करता है। रचना को एक वस्तु मानकर उसका वस्तुनिष्ठ और मूल्य निरपेक्ष विश्लेषण का प्रयास करते हुए साहित्य का समाजशास्त्र अतत रूपवादी समीक्षा के करीब पहुँच जाता है। साहित्य सजन म रचनाकार की सजनात्मक चेतना और कल्पना की, उसके निजी प्रयास की महत्त्वपूण भूमिका होती है, इसलिए साहित्यिक कृति को पूणत आत्मबद्ध, रचनाकार निरपेक्ष वस्तु मानकर उसका विश्लेषण नही किया जा सकता। दूसरी ओर साहित्य और कला रचना का एक महत्त्वपूण प्रयोजन मूल्य सजन और पाठको की मूल्यचेतना का विकास करना है। कला और साहित्य *म मुख्यत मूल्यधर्मी मानवीय मृजनशीलता प्रकट होती है, इसलिए उसका मूल्य* निरपेक्ष विश्लेषण उसके स्वभाव और प्रयोजन के विपरीत पडता है। वास्तव मे साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य विश्लेषण म वस्तुनिष्ठता और मूल्य निरपेक्षता के नाम पर रचना के मानवीय परिप्रेक्ष्य की उपेक्षा करता है। माक्सवादी आलोचना कला और साहित्य के रचनात्मक मानवीय परिप्रेक्ष्य को भुलाकर रचना की व्याख्या का प्रयास नही करती। इस वस्तुनिष्ठता और मूल्यमुक्तता के नाम पर साहित्य का समाजशास्त्र रचनाकार की आस्था और सामाजिक प्रतिबद्धता की भी उपेक्षा करता है और इस प्रक्रिया म वह रूपवादी समीक्षा के निकट पहुँच जाता है।

साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य को सामाजिक दस्तावेज, सामाजिक माध्य, सामाजिक तथ्य या सामाजिक सस्था मानकर उसका अध्ययन करता है। इस प्रक्रिया मे वह साहित्य को समाज का दपण मानता है जिसमे समाज प्रतिबिम्बित होता है या फिर साहित्य को समाज के रूप से निर्धारित मानता है। समाजशास्त्रीय प्रतिबिम्बन की धारणा या उसके निर्धारणवाद से साहित्य और समाज के द्वद्वात्मक सम्बन्ध की व्याख्या नही होती। साहित्य समाज का न तो

निष्क्रिय प्रतिबिम्ब मात्र है और न दोनों के बीच केवल कार्य-कारण जैसा सीधा सम्बन्ध ही होता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन साहित्य और समाज, यथार्थ और कल्पना के जटिल द्वंद्वात्मक सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए साहित्य की सामाजिकता और साहित्यिकता को सामने लाता है। साहित्य समाज से प्रभावित होता है तो वह समाज को प्रभावित भी करता है, उसमे मानव चेतना की सृजनशीलता भी प्रकट होती है। साहित्य मानव चेतना की उपज ही नही है, वह मानव चेतना का निर्माण व विकास भी करता है, इसलिए उसकी उत्पत्ति और प्रयोजन की इस द्वंद्वात्मकता को भुलाकर उसकी महत्ता का मूल्यांकन नही हो सकता। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य को जब समाज का दर्पण मानकर उसकी व्याख्या करता है तो रचनाशीलता का उद्घाटन नही होता।

साहित्य और कला के तीन अनिवार्य आयाम हैं, सृजन, अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण। साहित्य का समाजशास्त्र सृजन प्रक्रिया की व्याख्या करने म अक्षम है। वह अधिक से अधिक रचना की दशाओ और परिस्थितियो का ही विश्लेषण करता है। यही स्थिति सम्प्रेषण के बारे मे भी है। अभिव्यक्ति की प्रक्रिया की व्याख्या और उसके उपादानो का समुचित विवेचन साहित्य के समाजशास्त्र से सम्भव नही होता। साहित्य का समाजशास्त्र उत्पादन, वितरण और उपभोग की भाषा म सृजन और सम्प्रेषण की व्याख्या का असफल प्रयत्न करता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन सृजनशीलता और उसके प्रयोजन, अभिव्यक्ति की प्रक्रिया और उसके उपादान तथा अभिग्रहण से सम्बंधित विभिन्न समस्याओ का विवेचन-विश्लेषण करता हुआ सम्पूर्ण साहित्य प्रक्रिया की व्याख्या करने मे सक्षम है।

साहित्य का समाजशास्त्र साहित्यिक कृतियो को साहित्य की परपरा के सन्दर्भ मे नही देखता, वह रचना को एक स्वतन्त्र इकाई मानकर उसका विवेचन करता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन परम्परा और प्रयोग की द्वंद्वात्मकता से साहित्य की प्रगति का समझने का प्रयास करता है। यही कारण है कि साहित्य के इतिहास-लेखन के सदर्भ म साहित्य का समाजशास्त्र अनुपयोगी सिद्ध होता है, जबकि मार्क्सवादी साहित्य चिंतन सामाजिक विकास के साथ साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए साहित्य के इतिहास लेखन का आधार निर्मित करता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन साहित्य के विकास का अध्ययन करते हुए साहित्य की ऐतिहासिकता, उसकी समाज सापेक्ष स्वतन्त्रता और निरतरता पर बल देता है। इस प्रक्रिया मे वह साहित्य को मनुष्य के दूसरे सामाजिक व्यवहारो के अभिन्न अग के रूप म एक विशिष्ट सामाजिक व्यवहार मानकर उसकी व्याख्या करता है। दूसरी बात यह है कि साहित्य का समाजशास्त्र समाजशास्त्र की तरह ही द्वंद्वात्मक विकास की प्रक्रिया मे मात्रा के गुण म बदलने की प्रक्रिया से अपरिचित होने के कारण साहित्य के इतिहास के क्रांतिकारी परि-

वर्तनो की व्याख्या करने मे अक्षम है, ऐसे परिवर्तनो की व्याख्या के बिना साहित्य का इतिहास लेखन सम्भव नही होगा।

साहित्य और समाज के सम्बन्ध के बारे मे साहित्य के समाजशास्त्र और मार्क्सवादी साहित्य चिंतन के दृष्टिकोण म बुनियादी अतर है। समाज शास्त्रीय सापेक्षतावाद साहित्य और कला की स्वतन्त्रता को अस्वीकार करता है। दूसरी ओर वह साहित्य एव समाज के बीच निर्धारणवादी सम्बध स्वीकार करने के कारण साहित्य और समाज के सम्बन्ध की जटिलता और द्वद्वात्मकता को भी समझाने मे असमर्थ है। कुछ लोग मार्क्सवाद पर भी निर्धारणवाद का आरोप लगाते है। मार्क्सीय द्वद्ववाद और समाजशास्त्रीय निर्धारण्वाद एक दूसरे से पूर्णत भिन्न है। निर्धारणवादी होना द्वद्वात्मकता से दूर जाना है और गर मार्क्सवादी होना है।

साहित्य का समाजशास्त्र रचना की अन्तर्वस्तु का विश्लेषण करते हुए उसके सामाजिक सन्दर्भ को महत्त्व देता है, लेकिन सामाजिक सन्दर्भ के बदलने से रचना की सार्थकता म जो परिवर्तन होते हैं सार्थकता मे जो घट बढ होती है उस पर साहित्य का समाजशास्त्र ध्यान नही देता। इस स्थिति की व्याख्या रचना और सामाजिक सास्कृतिक सन्दर्भ के द्वद्वात्मक बोध से ही सम्भव है। हिन्दी म कबीरदास और उर्दू मे नजीर की रचनाओ मे व्यक्त सामाजिक चेतना का महत्त्व प्रगतिशील आदोलन के दौरान स्वीकार किया गया तो इन रचनाकारो की महत्ता और सार्थकता भी बढी। रचनाओ और रचनाकारो की लोकप्रियता के ऐसे उतार चढाव की व्याख्या करते हुए मार्क्स वादी आलोचना साहित्य ही नही, साहित्य की धारणा के विकास और परिवर्तन की प्रक्रिया का भी उदघाटन करता है।

मार्क्सवाद समाज और मानव व्यवहार को केवल समझने और व्याख्या करने का ही दर्शन नही है उसका प्रयोजन समाज और मनुष्य को बदलना भी है। साहित्य सामाजिक बदलाव की प्रक्रिया मे सहायक होता है इसलिए मार्क्स वादी साहित्य चिंतन सामाजिक बदलाव, समाज के क्रातिकारी परिवर्तन के के प्रसग मे साहित्य की सार्थकता की परख व पहचान विकसित करता है। साहित्य का समाजशास्त्र समाजशास्त्र की ही तरह केवल व्याख्या तक ही अपने को सीमित रखता है। जसे समाजशास्त्र समाज के बुनियादी बदलाव से असम्बद्ध होता है वैसे ही साहित्य का समाजशास्त्र सामाजिक बदलाव मे साहित्य की क्रातिकारी भूमिका की पहचान कराने म असमर्थ है। साहित्य का समाजशास्त्र पूजीवादी समाज व्यवस्था की अनेक दूसरी चीजो की तरह साहित्य को भी केवल बाजार की वस्तु या उपभोग की वस्तु समझता है। इसलिए वह अधिक से अधिक उत्पादन, वितरण तथा उपभोग की दशाओ की व्याख्या करता

हुआ उत्पादन, वितरण और उपभोग की प्रक्रिया को सुगम बनाने की कोशिश करता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन साहित्य और कला को बाजार की वस्तु बनाने के प्रयत्न की असलीयत का विश्लेषण करता है और इस प्रक्रिया के खिलाफ संघर्ष की दिशा देता है।

मार्क्सवाद साहित्य को अनेक विचारधारात्मक रूपों में से एक रूप मानता है। वह विचारधारा को मिथ्या चेतना ही नहीं, वर्ग चेतना भी मानता है। मार्क्सवाद समाज के इतिहास की तरह साहित्य के विकास में भी वर्ग संघर्ष की मुख्य भूमिका को स्वीकार करता है। साहित्य को विचारधारात्मक रूप मानने का यह अर्थ नहीं है कि साहित्य को विचारों तक सीमित माना जाय, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। विचारधारा के अंतर्गत भाव, विचार और मूल्य चेतना का समावेश होता है। साहित्य को विचारधारात्मक रूप मानने का अर्थ है उसकी ऐतिहासिकता और वर्गीय स्थिति को स्वीकार करना। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं है कि मार्क्सवाद विचारधारा की सापेक्ष स्वतंत्रता और समाज को प्रभावित करने वाली उसकी शक्ति की उपेक्षा करता है। साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य के विचारधारात्मक स्वरूप की उपेक्षा करता है और उसकी वर्गीय स्थिति को भी महत्त्व नहीं देता। विधेयवादी और अनुभववादी समाजशास्त्रीयता को छोड़ भी दिया जाय तो मार्क्सवाद समाजशास्त्र को मिलाने की कोशिश करने वाले लुसिए गोल्डमान जैसे आलोचक भी विचारधारा को केवल मिथ्या चेतना समझते है और साहित्य विश्लेषण के संदर्भ में वर्ग और विचारधारा के बदले समूह और विश्वदृष्टि की धारणा का उपयोग करते हैं। साहित्य के विचारधारात्मक स्वरूप को अस्वीकार करना उसके वर्गीय स्वरूप को अस्वीकार करना है और साहित्य के वर्गीय स्वरूप को अस्वीकार करने का अर्थ है वर्ग-संघर्ष के संदर्भ में साहित्य की क्रांतिकारी भूमिका को अस्वीकार करना। इस प्रकार साहित्य का समाजशास्त्र साहित्य कर्म की सामाजिकता को ही घटाता दिखाई देता है। इसके विपरीत मार्क्सवाद सामाजिक बदलाव के संदर्भ में साहित्य की क्रांतिकारी भूमिका को स्वीकार करते हुए साहित्य को विशिष्ट महत्त्व प्रदान करता है।

मार्क्सवादी आलोचना और साहित्य के समाजशास्त्र का विरोध सबसे अधिक साहित्य और राजनीति के सम्बंध के संदर्भ में प्रकट होता है। साहित्य का समाजशास्त्र लेखक की राजनीतिक प्रतिबद्धता तथा रचना के राजनीतिक प्रभाव और प्रयोजन को रचना के विश्लेषण के लिए आवश्यक नहीं मानता, बल्कि अनावश्यक मानता है। साहित्य और राजनीति के सम्बन्ध के प्रसंगों में भी साहित्य का समाजशास्त्र रूपवादी आलोचना के करीब पड़ता है। मार्क्सवादी साहित्य चिंतन रचनाओं, रचनाकारों और साहित्यिक आंदोलनों

के राजनीतिक पक्ष की उपेक्षा नहीं करता, लेकिन इसका यह अर्थ भी नहीं है कि वह रचनाकारों के केवल राजनीतिक दृष्टिकोण के आधार पर ही उनका मूल्यांकन करता है। रचना की उपेक्षा करके रचनाकार की राजनीतिक दृष्टि के आधार पर ही रचना का मूल्यांकन करना मार्क्सवादी साहित्य चिंतन की महत्त्वपूर्ण विरासत से अपरिचय प्रकट करना है। मार्क्सवादी आलोचना रचनाकार की विचारधारा और राजनीतिक दृष्टि की, चिंता करते हुए भी उससे यथार्थबोध और कलात्मक श्रेष्ठता को अधिक महत्त्व देती है। मार्क्स एंगेल्स ने बालजाक की व्याख्या करते हुए और लेनिन ने तोलसतोय पर लिखते हुए इन रचनाकारों की विचारधारा के गलत होने के बावजूद उनके रचनात्मक सामर्थ्य और यथार्थबोध की प्रशंसा की, तो कुछ लोगों ने अपनी गलत विचारधारा के समर्थन के लिए यह निष्कर्ष निकाल लिया कि एक तो रचनाकारों की विचारधारा पर ध्यान देना जरूरी नहीं है और दूसरे, गलत विचारधारा के बावजूद महान कृतियों की रचना सम्भव है। हिन्दी में भी इस स्थिति के उदाहरण मिल सकते हैं। प्रेमचन्द ने कहा है कि 'लेखक स्वभावतः प्रगतिशील होता है', तो कुछ लेखकों ने प्रतिक्रियावादी होने के बावजूद केवल लेखक होने के नाते अपने को स्वभावतः प्रगतिशील मान लिया। राजनीतिक दृष्टि की श्रेष्ठता अगर रचना की श्रेष्ठता की गारंटी नहीं है तो साहित्य के इतिहास के एक दो अपवादों के आधार पर गलत राजनीतिक दृष्टि को भी रचना की श्रेष्ठता की गारंटी नहीं माना जा सकता। कुछ लोग यह समझते हैं कि रचना में राजनीतिक दृष्टि नहीं, यथार्थबोध अधिक महत्त्वपूर्ण है। तो क्या राजनीतिक दृष्टि यथार्थबोध में बाधक होती है? वह दृष्टि किस काम की जो जीवन और जगत को देखने में मदद ही न दे। यह सच है कि रचनाकार की राजनीतिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण रचना में व्यक्त राजनीतिक दृष्टि है। लेनिन ने तोलसतोय का जो विश्लेषण किया है उससे यह मालूम होता है कि तोलसतोय की राजनीतिक दृष्टि के सही न होने पर भी रचनाओं में व्यक्त यथार्थबोध की यह विशेषता है कि क्रांतिकारी सर्वहारा वर्ग उसकी मदद से अपने दुश्मनों को पहचान सकता है। लेनिन ने *तोल्सतोय की रचनाओं का जो विश्लेषण किया है उससे निष्कर्ष निकलता* है कि रचनाकार की राजनीतिक दृष्टि की उपेक्षा की जा सकती है लेकिन रचना के राजनीतिक प्रभाव और प्रयोजन की उपेक्षा नहीं की जा सकती। रचना में निहित या व्यक्त गलत राजनीतिक दृष्टि रचना को कला की दृष्टि से भी गलत बनाती है।

अब तक मैंने साहित्य के समाजशास्त्र और मार्क्सवादी आलोचना को परस्पर विरोधी बताने की कोशिश की है। कुछ लोग यह कह सकते हैं कि

साहित्य के समाजशास्त्र की जो कमजोरिया बतायी गई हैं, वे विधेयवादी और अनुभववादी समाजशास्त्र से विकसित साहित्य के समाजशास्त्र की है। अब तो मार्क्सवाद और समाजशास्त्र को मिलाकर 'मार्क्सवादी समाजशास्त्र' बनाने का प्रयास हो रहा है। मार्क्सवाद और समाजशास्त्र के मेल से बना मार्क्सवादी समाजशास्त्र पुराने समाजशास्त्र की कमजोरियो से मुक्त होगा और मार्क्सवादी समाजशास्त्र से विकसित साहित्य का समाजशास्त्र पुराने साहित्य के समाजशास्त्र की कमजोरियो से भी मुक्त होगा। मुझे ऐसा लगता है कि मार्क्सवाद और समाजशास्त्र को मिलाने का प्रयास एक गलत प्रयास है और उसके आधार पर साहित्य का समाजशास्त्र विकसित करने प्रयास और भी अधिक गलत है। ऐसे प्रयास मार्क्सवाद को समाज की अधूरी व्याख्या की एक पद्धति मात्र बना देने और उसको क्रातिकारी कर्म का दर्शन न रहने देने की मनोकामना से प्रेरित प्रतीत होते है।

मार्क्सवाद को इस तरह विकृत करने के प्रयास मार्क्स एगेल्स के समय मे भी हुए थे जिनको देखकर मार्क्स ने कहा होगा कि अगर यही सब मार्क्सवाद है तो मैं मार्क्सवादी नही हू। मार्क्सवाद को समाजशास्त्र बनाने या मार्क्सवाद और समाजशास्त्र को मिलाने की कोशिश बहुत पहले बुखारिन ने की थी जिसकी ग्राम्सी ने मुसोलिनी की जेल म मौत से जूझते हुए भी लम्बी और तीखी आलोचना की थी। मार्क्सवाद और समाजशास्त्र को मिलाने के प्रयास के विरुद्ध ग्राम्सी की तरह सघर्ष करने की जरूरत है।

साहित्य के समाजशास्त्र के इतिहास मे इस बात के प्रमाण है कि मार्क्सवाद और समाजशास्त्र को मिलाकर साहित्य का समाशास्त्र विकसित करने के लिए प्रयत्नशील साहित्य चिंतक अपनी सारी प्रतिभा और विश्लेषण क्षमता के बावजूद समाजशास्त्र की बुनियादी कमजोरियो से मुक्त नही हो पाय है। उनम से सब के सब कुत्सित समाजशास्त्री भले ही न बन गये हो, लेकिन इस काजल की कोठरी म जाने के बाद बिना कालिख लगे कोई भी बाहर नही आ सका है। लुसिए गोल्डमान एक ऐसे ही प्रसिद्ध साहित्य के समाजशास्त्री थे जो मार्क्सवाद, फ्रायडवाद, सरचनावाद और समाजशास्त्र को मिलाकर साहित्य विश्लेषण की एक नयी पद्धति विकसित करने की कोशिश कर रहे थे। अनेक वादो और शास्त्रो के मेल से निर्मित अपनी पद्धति से साहित्य और समाज के जीवन भर के विश्लेषण के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुचे थे कि मार्क्सवाद अब पुराना पड चुका है और सर्वहारा की क्रातिकारी शक्ति मे विश्वास करना मिथ म जीना है। लुसिए गोल्डमान जैसे समय और प्रतिभाशाली व्यक्ति का अगर ऐसा अन्त हुआ तो प्रतिभा की थोडी पूजी लेकर इस मैदान मे उतरनेवाला से क्या उम्मीद की जा सकती है। कुछ आलोचक मार्क्सवाद मे सामाजिक गद्य और

अन्तवस्तु विश्लेषण की पद्धति ले लेते है और रूपवाद से शिल्प विश्लेषण का तरीका, फिर दोनो को मिलाकर एक बेहतर आलोचना पद्धति के विकास का भ्रामक प्रयास करते हैं और अ तत रूपवाद या समाजशास्त्रीयता के जाल मे जा फसते हैं। वैसे ही कुछ आलोचक मार्क्सवादी आलोचना और समाजशास्त्रीय आलोचना को मिलाकर बेहतर आलोचना की उम्मीद मे प्रारम्भ करके अ तत समाजशास्त्रीय आलोचक बनकर रह जाते है।

अत मे एक बात और। साहित्य के समाजशास्त्र की आलोचना रूपवादी और कलावादी भी करते हैं। निश्चय ही उनकी आलोचना का प्रयोजन दूसरा है। वे साहित्य और कला के सन्दर्भ मे समाज की चर्चा से चिढते हैं। इसको साहित्य और कला के आत्मबद्ध, स्वायत्त ससार पर आक्रमण समझते है। वे साहित्य की साहित्यिकता मे आस्था रखते हैं और उनकी साहित्यिकता शब्दो म सिमट जाती है। निश्चय ही हम इस रूपवादी कलावादी साहित्य चिंतन की तुलना म साहित्य के समाजशास्त्र को अधिक उपयोगी मानते हैं, क्योंकि वह साहित्य की सामाजिकता पर बल देता है साहित्य और समाज के सम्बन्धो को समझने का प्रयत्न करता है। नये पुराने देशी विदेशी रूपवादी कलावादी साहित्य चिंतन से साहित्य का समाजशास्त्र अधिक उपयोगी है, लेकिन उसे मार्क्सवादी आलोचना के विकल्प के रूप मे समझना या पेश करना गलत है।

सकल्पित चितन का फल
(कॉडवेल की नई कृति 'रोमास एण्ड रियलिज्म')

क्रिस्टोफर सेन्ट जॉन स्प्रिग्ग, जो अपने साहित्यिक उपनाम क्रिस्टोफर कॉडवेल से ही अधिक विख्यात है, 20 अक्टूबर सन 1907 ई० को पैदा हुए थे और 12 फरवरी, 1937 को स्पेन के गृह युद्ध मे मुक्ति फौज की ओर से लडते हुए शहीद हो गये। उन्होने पत्रकारिता से अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत की थी। प्रारम्भ में क्रिस्टोफर सेंट जॉन स्प्रिग्ग के नाम से ही उनके कुछ जासूसी उपन्यासो, लेखो और एक कविता सग्रह का प्रकाशन हुआ। 1936 में क्रिस्टोफर कॉडवेल के नाम से उनका एक महत्त्वपूर्ण उपन्यास 'दिस माइ हैन्ड' छपा। यही से क्रिस्टोफर कॉडवेल के नाम से उनके गम्भीर लेखन का प्रारम्भ हुआ। वे अपने जीवन काल में प्राय अज्ञात ही रहे, लेकिन मरने के बाद एक मार्क्सवादी आलोचक और सौंदयशास्त्री के रूप में उन्हे ख्याति मिली। चितन और कर्मठता, विचार और आचरण की वास्तविक एकता का जो रूप उनके जीवन में मिलता है, वह मार्क्सवादी दर्शन मे उनकी गहरी आस्था की देन है। मार्क्सवाद दुनिया को समझने समझाने का ही दर्शन नही है, बल्कि वह दुनिया को समझकर उसको बदलने में सहायक दर्शन है। कॉडवेल का तीस वर्षों का छोटा सा जीवन ज्ञान और कर्म की तेजस्विता के कारण आकर्षक और गरिमामय है। कॉडवेल एक बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति थे जो अपने छोटे से जीवन में ही मानव ज्ञान की पूरी विरासत को अपना बनाने की कोशिश मे काफी कामयाब हुए। अपनी जीविका के साधन जुटाने मे व्यस्त और पार्टी के कामो में सक्रिय हिस्सा लेते हुए भी उन्होने अपने जीवन के अतिम पाच वर्षों मे ही अधिकाश लेखन कार्य किया। इन पाँच वर्षों में ही उन्होने अपराध सम्बन्धी सात उपन्यासो, उडान पर पाच पुस्तको, 'दिस माइ हैन्ड' जैसा उपन्यास, 'इल्यूजन एन्ड रिएलिटी' और विभिन्न विषयो पर 13 महत्त्वपूर्ण लम्बे निबन्धो की रचना की, जो बाद मे 'स्टडीज़ इन डायिंग कल्चर' और 'फर्दर स्टडीज़ इन डायिंग कल्चर' मे सगृहीत हुए। सन् 1934 के तीन महीनो के भीतर ही, जबकि वे सप्ताह मे चार दिन आधे दिन के हिसाब से नौकरी भी करते थे, उन्होने एक जासूसी उपन्यास, वायुयान चालन सम्बन्धी एक पुस्तक, उडान सम्बन्धी लेख, छ कहानियां और कुछ कविताओ की रचना की।

क्षेत्र मे जो काम किया है उसकी महत्ता और गभीरता को इन क्षेत्रो के विशेपज्ञो ने भी स्वीकार किया है। कॉडवेल 1934 के आसपास मार्क्सवाद के अध्ययन और कम्युनिस्ट पार्टी की गतिविधियो की ओर मुडे। उनके लिए मार्क्सवादी दशन की यात्रा केवल पुस्तको से पुस्तको तक ही सीमित नही थी। उन्होने अपने मार्क्सवादी दष्टिकोण को ही स्पष्ट करने के लिए मानव ज्ञान के विविध क्षेत्रो की रचनात्मक यात्रा की। वे लेनिन के इस कथन से परिचित थे "Communism becomes an empty phrase, a mere facade and the communist a mere bluffer, if he has not worked over in his consciousness the whole inheritance of human knowledge" कॉडवेल की करीब करीब सभी प्रमुख रचनाएँ उनके मरने के बाद प्रकाशित हुई हैं, इसलिए उनमे चिंतन के विकास-क्रम को खोजना काफी मुश्किल काम है। कॉडवेल मुख्यत मार्क्सवादी सौंदयशास्त्री और आलोचक माने जाते हैं, लेकिन मार्क्सवादी सौंदयशास्त्री और सहित्य चिंतक के रूप मे उनका कृतित्व काफी विवादास्पद रहा है। यह विवाद का विषय है कि कॉडवेल सौदयशास्त्री है या आलोचक। कुछ विद्वानो के लिए तो यह भी विवादास्पद है कि कॉडवेल मार्क्स वादी विचारक है या नही। ऐसे ही कुछ लोगा के लिए मार्क्सवादी सौंदय शास्त्र का स्वरूप और अस्तित्व भी विवादास्पद है।

कॉडवेल के साहित्य दशन पर विचार करने के पहले उसके जमाने के इग्लड के साहित्यालोचन मे मार्क्सवादी दशन की स्थिति पर विचार करना जरूरी है। कॉडवेल के पहले अग्रेजी साहित्य मे मार्क्सवादी आलोचना और सौंदयशास्त्र की कोई विकसित परम्परा नही थी। उसके समकालीन मुख्य मार्क्स वादी साहित्य चिंतक हैं—राल्फ फाक्स और एलिक वेस्ट। इनके अतिरिक्त जॉन स्ट्रेची और फिलिप हडरसन ने भी इस क्षेत्र म काम किया है। अपने समकालीन दूसरे मार्क्सवादी आलोचको से कॉडवेल चिंतन की व्यापकता और गहराई की दृष्टि से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूण है। अग्रेजी साहित्यालोचन मे मार्क्सवादी आलोचना और सौदयशास्त्र की परम्परा की शुरआत करने वालो म कॉडवेल का महत्त्वपूण स्थान है। सन् 1930 के करीब नयी पीढी के रचनाकारा मे ऑडेन स्पेंडर, इशरवुड, आरवल और डे लेविस आदि प्रमुख थे जो मार्क्सवाद की ओर आकृष्ट हुए थे। उस समय के इग्लड के जनमानस पर प्रथम महायुद्ध का गहरा प्रभाव था। पूजीवाद की चरम परिणति के रूप मे साम्राज्यवाद कितना खतरनाक, विनाशकारी और मानवता विरोधी हो सकता है, इसका अनुभव जनता कर रही थी। उस समय इग्लैंड म ऐसा सामाजिक और बौद्धिक वातावरण था जिसमे अतीत के प्रति अनास्था थी, वतमान के प्रति गहरा असतोप था और भविष्य के प्रति आशका और अनिश्चय की स्थिति थी। अपने

जमा के इग्लैंड की बुर्जुआ सस्कृति को कॉडवेल ने 'मरणोन्मुख सस्कृति' कह-कर उसकी वास्तविक दशा की ओर सही सकेत किया है। आस्था के सकट की इस दशा मे मार्क्सवादी दशन और साम्यवादी समाज व्यवस्था मे मानव इतिहास के भविष्य की आशा का प्रकाश दिखाई पडा और नयी पीढी के अधिकाश साहित्यकार मार्क्सवाद की ओर मुडे। यही कारण था कि 1935 के आसपास इग्लैंड मे मार्क्सवाद का तेजी से प्रचार प्रसार हुआ। यह एक दूसरी कहानी है कि जो साहित्यकार निजी विश्वासो के सकट से परेशान होकर और मार्क्सवाद को वरदान देने वाला ईश्वर समझकर मार्क्सवाद की ओर आए थे, वे पूजीवादी व्यवस्था मे ही सुधार की आशा लेकर और इस ईश्वर को असफल कहकर पुन अपने पुराने घोसले मे लौट गए। कॉडवेल के लिए मार्क्सवाद दुनिया को बदलने मे सहायक दशन था, साहित्य सामाजिक परिवतन का हथियार था, इसलिए वे आलोचना के हथियारो को धारदार बनाने के साथ ही-साथ 'हथियारो की आलोचना' को तेज करने के काम मे ही शहीद हो गये।

कॉडवेल अपनी रचनाओ मे मानव चेतना की सम्पूण क्रियाशीलता की सयुक्त, परस्पर सम्बद्ध और विकासशील प्रगति की पहचान का प्रयत्न कर रहे थे। वस्तु और चेतना के विकासशील रूपो और सम्बन्धो की खोज के लिए ही उन्होने विज्ञान, दशन, कला और साहित्य की ऐसी यात्रा की, जिससे एक समग्र बोध प्राप्त हो सके। विज्ञान और कला दोनो ही यथाथ के प्रति मानव मानस की सोद्देश्य प्रतिक्रिया के परिणाम हैं इसलिए दोनो मे एक अन्तर्निहित सम्बन्ध होता है। मानव के सामाजिक अस्तित्व से उसकी चेतना अनुशासित होती है इसलिए उस चेतना की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपो के अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि मानव के सामाजिक अस्तित्व और चेतना के सम्बन्ध का अध्ययन किया जाय। साहित्य या कला के अध्ययन और मूल्याकन के लिए यह जरूरी है कि साहित्य के वास्तविक आधार मानव जीवन की सामाजिक क्रिया-शीलता के सदभ मे ही साहित्य का विवेचन किया जाय। कॉडवेल ने मानव चेतना की क्रियाशीलता की अभिव्यक्ति के सभी रूपो को सामाजिक क्रिया शीलता—के साथ ही विश्लेषित करने का प्रयत्न किया। कॉडवेल के अनुसार साहित्य एक सामाजिक क्रिया और विकासशील प्रक्रिया है। साहित्य मानव-स्वतन्त्रता का साधन है। कला मनुष्य की वृत्तियो की अनिवायताओ को परिष्कृत और स्वीकृत करके मानव चेतना को मुक्त बनाती है। 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी के ग्रन्थ मे कॉडवेल ने लिखा है कि कला मनुष्य के आत्मसाक्षात्कार का साधन है, इसलिए वह एक मानवीय वास्तविकता है। कॉडवेल के लिए कला और साहित्य का लक्ष्य है मानव की स्वतन्त्रता की वृद्धि। कला व्यक्ति और समाज दोनो की स्वतन्त्रता मे जितनी सहायक होती है उतनी ही बाधक भी होती है।

कॉडवेल को सौंदयशास्त्री अधिक और साहित्य का आलोचक कम माना जाता है, व्यावहारिक समीक्षक तो सबसे कम समझा जाता है, लेकिन 'रोमास एण्ड रियलिज़्म' के प्रकाशन के बाद अब यह कहना सही नही है कि कॉडवेल साहित्य के आलोचक नही है। कॉडवेल को 'स्टडीज इन डायिंग कल्चर' के प्रकाशन के बावजूद मुख्यत कविता का आलोचक माना जाता है, लेकिन इस नयी पुस्तक मे वह उपन्यास के समय आलोचक के रूप मे सामने आते है। कॉडवेल पर यह भी आरोप लगाया जाता है कि वे रचनाओ और रचनाकारो की समालोचना करने के बदले केवल सामाजिक पृष्ठभूमि, प्रेरक सामाजिक तत्त्व और काय कारणो की छानबीन का प्रयत्न करत है। 'रोमास एण्ड रियलिज़्म' के प्रकाशन से यह आरोप भी खडित होता है। कुछ साहित्यशास्त्री कॉडवेल की आलोचना को साहित्यालोचन न मानकर उसे साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन मानते हैं, इस पुस्तक को पढने से उनका भी दुराग्रह दूर हो जायेगा। यहा मैं उन विशुद्ध साहित्यशास्त्रियो की चर्चा नही कर रहा हूँ जो साहित्य को सामाजिक सदर्भों म रखकर परखन वाली हर आलोचना को सामाजशास्त्रीय या कुत्सित समाजशास्त्रीय आलोचना कहकर मुह बिचकाते हैं। वैसे कुछ विशुद्ध साहित्यवादी ऐसे भी हैं जिनको साहित्य या कला की आलोचना के सदम मे समाज का नाम लेना भी अरुचिकर लगता है। 'रोमास एण्ड रियलिज़्म' के सपादक ने अपनी भूमिका म इस पुस्तक को भी 'अग्रेजी साहित्य का समाजशास्त्र' कहा है, लेकिन उन्हाने भी इस पुस्तक मे कॉडवेल की आलोचना की साहित्यिकता को स्वीकार किया है। कॉडवेल की आलोचना पर एक आरोप यह भी है कि उसमे ऐतिहासिक चेतना का अभाव है, रोमास एण्ड रियलिज़्म' के बारे मे यह आरोप सही नही है। सन 1936-37 मे लिखी गयी इस पुस्तक को 1970 के बाद पढते समय बीच के आलोचना के सम्पूण विकास को विस्मत कर पाना सम्भव नही है, फिर भी कॉडवेल के जमाने के साहित्यालोचन की स्थिति को याद कर लेना अच्छा हागा। लेकिन इसका यह भी तात्पय नही है कि 'रोमास एण्ड रियलिज़्म' केवल एक महत्त्वपूण ऐतिहासिक दस्तावेज है। इसमे कॉडवेल की प्रखर आलोचनात्मक प्रतिभा का प्रमाण जगह जगह मिलेगा और अग्रेजी साहित्य की कई प्रवृत्तियो और रचनाओ के बारे मे नये विचार भी मिलेंगे। कॉडवेल पर अनेक आरोप 'माडन क्वाटर्ली' (1950–51) के कॉडवेल परिसवाद मे लगाये गए हैं। उन पर आरोप है कि वे कला को आत्मपरक अनुभव मानते हैं उनमे बुर्जुआ वग की प्रवृत्तियाँ है, उनकी कविता की धारणा पर फ्रायड का प्रभाव है उनमे स्वच्छदतावादी आत्मपरकता है अबुद्धिवाद है, उनमे गलत समन्वय का प्रयास है, वे विशुद्ध कविता के सिद्धान्त के निर्माता हैं। साराश यह है कि कॉडवेल मार्क्सवादी आलोचक नही हैं, कुछ लोगो के अनुसार

वे मार्क्सवादी विचारक भी नहीं हैं। इस परिसंवाद में भाग लेने वालों में मारिस कानफोर्थ जैसे दार्शनिक कॉडवेल की आलोचना को मार्क्सवादी मानने से ही इंकार करते हैं और जे डी बर्नल जैसे वैज्ञानिक कॉडवेल पर यान्त्रिक होने और गलत समन्वय करने का आरोप लगाते हैं, जबकि जार्ज थाम्सन जैसे सुप्रसिद्ध आलोचक कॉडवेल की रचनाओं को महत्त्वपूर्ण विचारों का भण्डार कहते हैं। जार्ज लूकाच ने भी कॉडवेल की तलस्पर्शी प्रतिभा और प्रगतिशील दृष्टिकोण की प्रशंसा की है। लूकाच ने कॉडवेल के कला और साहित्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की प्रखरता और औचित्य को स्वीकार किया है। डेविड एन मार्गोलीज के अनुसार कॉडवेल ऐसा पहला आलोचक है जिसने कला पर पूर्णतः सामाजिक और पूर्णतः मार्क्सवादी दृष्टिकोण से विचार किया है। 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' से यद्यपि कॉडवेल पर लगाये गये आरोप पूर्णतः खंडित नहीं होते, फिर भी अधिकांश आरोप इस पुस्तक के प्रकाशन के बाद निस्सार साबित होते हैं।

कॉडवेल के अनुसार 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' का लक्ष्य है उन सामाजिक परिवर्तनों का विश्लेषण, जिनसे उपन्यास और कविता के रूप तथा तकनीक में परिवर्तन हुए हैं। सामाजिक परिवर्तन के साथ युगीन संवेदना और साहित्य के रूपों तथा मुहावरों में होने वाले परिवर्तनों को जोड़कर उनका विवेचन विश्लेषण करना इस पुस्तक में कॉडवेल के मार्क्सवादी दृष्टिकोण की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। रचनात्मक साहित्य के वस्तु तत्त्व और रूप में होने वाले परिवर्तन सामाजिक परिवर्तनों से प्रभावित होते हैं। साहित्य के वस्तु-तत्त्व और सामाजिक परिवर्तनों के सम्बन्ध को पहचानना सरल है, लेकिन साहित्य के रूपों और मुहावरों में हुए परिवर्तनों पर सामाजिक परिवर्तन के प्रभावों को पहचानना गहरी सूझ-बूझ का काम है। कॉडवेल के अनुसार साहित्य के रूप और मुहावरे में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के सूचक हैं। सामाजिक परिवर्तन का प्रभाव सम्पूर्ण युगीन चेतना पर पड़ता है इसलिए कॉडवेल ने साहित्य और कला तथा वैज्ञानिक चिन्तन में होने वाले परिवर्तनों को परस्पर सम्बद्ध रूप में देखा है। रोमांस एण्ड रियलिज्म में साहित्यिक कल्पना की गतिशीलता को सामाजिक क्रियाशीलता के संदर्भ में विवेचित किया गया है। यद्यपि इस पुस्तक में अंग्रेजी साहित्य का विकास कालक्रम से विवेचित हुआ है लेकिन इसे प्रचलित अर्थ में अंग्रेजी साहित्य का इतिहास नहीं कहा जा सकता है। इस पुस्तक में रचनाओं, रचनाकारों और साहित्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के बारे में केवल अपनी राय देने के बदले उनका विवेचन हुआ है आलोचना से अधिक विश्लेषण पर बल दिया गया है और खंडन मंडन से अधिक सैद्धान्तिक पुनर्निर्माण का प्रयास है।

कॉडवेल ने 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' में आद्योपान्त रचनाओं, रचनाकारों और साहित्य की प्रवृत्तियों के विवेचन के साथ साथ अपनी आलोचना के

सैद्धान्तिक आधार का भी निर्माण किया है। इस पुस्तक मे ऐसे सैद्धान्तिक विचार और साहित्य सम्बधी महत्त्वपूर्ण धारणाए है, जो मार्क्सवादी साहित्यालोचन के विकास म सहायक हैं तथा इस पुस्तक को समझने के लिए उनको समझना भी जरूरी है। इन साहित्य-सिद्धान्तो को क्रमबद्ध रूप से यहा एकत्रित करने का प्रयास किया जा रहा है—

1 बुर्जुआ साहित्य के लम्बे इतिहास के दौरान विरोधी प्रवृत्तिया का उदय, विकास, सघर्ष और पतन लगातार मिलता है। ऊपरी तौर पर ये विरोधी प्रवत्तिया आपस मे टकराती प्रतीत होती है और इन विरोधी प्रवत्तियो को बुर्जुआ आलोचक केवल साहित्यिक प्रवृत्तिया मानते है। वे इन साहित्यिक प्रवृत्तियो के भौतिक आधार का विश्लेषण नही करते। ऐसे आलोचक मानव-चितन की जटिलताओ को पहचानने के बदले उसे केवल प्लेटोवाद या अरस्तूवाद, यथार्थवाद या नामरूपवाद, अतमुखता या बहिर्मुखता, स्वच्छदतावाद या शास्त्रीयतावाद तथा स्थूल दष्टि या सूक्ष्म दृष्टि आदि मे बाटकर सतोष कर लेते हैं। ऐसे आलोचक साहित्य के विकास की प्रक्रिया को शास्त्रीयतावाद और स्वच्छदतावाद जैसे सरल विपरीतो मे बाट कर देखते है, लेकिन साहित्य के विकास की जो द्वद्वात्मक गति होती है, उसे वे नही पहचान पाते। इसलिए जब एक ही युग या एक ही लेखक म विरोधी प्रवृत्तिया मिलती हैं तो ऐसा सारा वर्गीकरण लडखडा जाता है और फिर फुटकर खाता खोलना पडता है। ऐसे मे वस्तुपरकता और आत्मपरकता, भावनावादी और भौतिकवादी, व्यक्तिवादी और परम्परावादी तथा श्लील और अश्लील आदि वैचारिक रूप परस्पर टकराते प्रतीत होते हैं। वास्तव मे साहित्य के इतिहास की गतिविधि को द्वद्वात्मक भौतिकवादी ढग से देखना जरूरी है और साहित्य के आधारभूत समाज के इतिहास को ऐतिहासिक भौतिकवादी दृष्टिकोण से देखना जरूरी है।

2 समाज मे लेखक और साहित्य के प्रभाव और प्रयोजन का विश्लेषण साहित्यालोचन के लिए आवश्यक है। कॉडवेल ने अपने सभी ग्रथो मे कला और साहित्य की सामाजिक प्रयोजनशीलता का विवेचन किया है। कला की कार्यशीलता की व्याख्या कॉडवेल की आलोचना की महत्त्वपूर्ण देन है।

3 एक लेखक अपनी जिस रचना को सर्वोत्तम समझता है, वह रचना कलात्मक दष्टि से श्रेष्ठ भले ही न हो, लेकिन लेखक की जीवन दृष्टि, कला दर्शन और शिल्पशक्ति की सर्वाधिक व्यजक होती है।

4 कॉडवेल ने जीवन, अनुभव, भाषा और अभिव्यक्ति के सम्बध और स्वरूप का विवेचन इस पुस्तक मे किया है। इस सदर्भ मे कॉडवेल का यह कथन विचारणीय है कि साहित्य की परम्पराए भाषा की परम्पराए, नही बल्कि सामाजिक परम्पराए होती हैं।

5 कला एक प्रक्रिया है और सारत यह दूसरी सामाजिक प्रक्रियाओं से अभिन्न है। उपयोगी कलाओं से ललितकलाओं का पूर्णत अलगाव महाजनी सभ्यता के कारण हुआ है।

6 सामाजिक परिवर्तनों के साथ साथ साहित्य और कला के रूप तथा तकनीक और मुहावरे म भी परिवर्तन होता है। एक कला के रूप म परिवर्तन का प्रभाव दूसरी कला के रूप पर भी पड़ता है। विभिन्न साहित्य रूपों मे होने वाले परिवर्तन परस्पर प्रभाव डालते हैं।

7 किसी भी युग मे, विशेषत तेजी म बदलते हुए युग म, यथार्थ के प्रति वैज्ञानिक और कलात्मक दृष्टिकोण मे गहरा सबध होता है।

8 कॉडवेल ने ट्रैजडी और कॉमेडी की रचना और आस्वादन प्रक्रिया का विश्लेषण किया है। ट्रैजडी के आस्वादन म नायक के साथ सहृदय के तादात्म्य और सहानुभूति की जरूरत होती है जबकि कॉमेडी म सहृदय की तटस्थता आवश्यक है। व्यक्ति-केन्द्रित साहित्य के युग मे प्राय ट्रैजडी की प्रधानता होती है और ऐसी स्थिति मे ही 'ट्रैजिक-कॉमेडी' की रचना होती है।

9 उपन्यास और कविता की रचना और आस्वादन प्रक्रिया की तुलना कॉडवेल ने 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' म भी की है, लेकिन 'रोमांस एण्ड रियलिज़म' मे उपन्यास और कविता के सम्बन्ध का विश्लेषण नये ढग से हुआ है। इस पुस्तक मे कॉडवेल का विचार है कि कविता के आस्वादन में पाठक को कवि की अनुभूति से साथ तादात्म्य स्थापित करने की जरूरत होती है, लेकिन उपन्यास मे पाठक तटस्थ रह सकता है। उपन्यास वास्तुकला के समान तीन आयामी होता है। यान्त्रिक भौतिकवाद और भावनावाद के कारण वस्तु और चेतना मे जो पार्थक्य स्थापित होता है उसके परिणामस्वरूप ही आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता को एक दूसरे से सवथा अलग और स्वतन्त्र मानकर कविता को आत्मनिष्ठ और उपन्यास को वस्तुनिष्ठ कह दिया जाता है। कविता और उपन्यास को आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ वर्गो मे बाटकर देखने की प्रवृत्ति गलत है। कविता और उपन्यास दोनो मे आत्मपरक वस्तुनिष्ठता और वस्तुनिष्ठ आत्मपरकता का सयोग होता है।

10 इस पुस्तक मे कॉडवेल ने कवि कविता और क्रान्ति के सम्बन्धो पर भी विचार किया है। कविता के क्षेत्र मे अराजकतावादी और वैयक्तिक विद्रोह का नारा बुलन्द करने वाले कवियो से क्रान्तिकारी भावना और जनवादी विश्वदृष्टि वाले कवि अलग किस्म के होते हैं। क्रान्तिकारी कवि होने का अर्थ है क्रान्ति की भावना और प्रक्रिया से भी परिचित होना। क्रान्तिकारी कवि केवल कविता के क्षेत्र मे ही क्रान्ति नही करता, वह सामाजिक क्रान्ति मे भी

सहायक होता है। बुर्जुआ व्यवस्था की व्यावसायिकता के विरुद्ध शुद्ध सौंदयवादी विद्रोह या व्यक्तिवादी भावावेश क्रांतिकारिता नही है।

कॉडवेल ने साहित्यिक चेतना को व्यापक मानवीय चेतना का अग मानकर ही उसकी गतिविधि का विवेचन किया है। 'रोमास एण्ड रियलिज्म' मे शेक्सपीयर और उसके बाद के अग्रेजी साहित्य के विकास का विश्लेषण और सामाजिक परिवतन से प्रभावित होने वाले साहित्य-रूप के परिवतनो का विवेचन हुआ है। कॉडवेल ने साहित्य के साथ साथ तदयुगीन इतिहास, विज्ञान और आर्थिक जीवन से प्रभावित मानव चेतना की क्रियाशीलता की विकासशील प्रगति को पहचानने का प्रयत्न किया है। एक युग के सम्पूर्ण यथाथ के समग्र बोध के बिना केवल कला सवेदना और उसकी अभिव्यक्ति की उपलब्धियो की चर्चा एकागी ही होगी। कला और साहित्य अनिवायत अपने सामाजिक परिवेश से प्रभावित होते हैं, यह मानने के बावजूद भी आत्मवादी आलोचक कलाकृतियो का विवेचन करते समय उन कलाकृतियो मे व्यक्त मानव जीवन के सामाजिक अस्तित्व मे आख मूद लेते हैं। कॉडवेल के अनुसार शेक्सपीयर के नाटको मे मानव की वैयक्तिकता के अनेक रूप और स्तर उदघाटित हुए हैं। नवोदित पूजीवादी व्यवस्था की अथ लिप्सा और भोग लिप्सा के कारण मानव सम्बधो मे व्याप्त अमानवीयता और असगति का प्रभावशाली चित्रण शेक्सपीयर ने किया है। गहरी मानवीय सहानुभूति की व्यजना के कारण ही शेक्सपीयर की कला देश काल की सीमा के पार भी मूल्यवान है। शेक्सपीयर मे एक ओर पुरानी सामन्ती व्यवस्था के जीवन मूल्यो के अवशेष हैं तो दूसरी ओर नवोदित पूजीवादी व्यवस्था के आगमन के चिह्न भी हैं। सामन्ती व्यवस्था के पतन और पूजीवादी व्यवस्था के उदय के सधिकाल मे मानवीय सम्बधो और जीवन मूल्यों की वास्तविकता का शेक्सपीयर ने जो चित्रण किया है और मार्क्स ने अपनी पुस्तक 'Economic and Philosophic Manuscripts of 1844' मे उसका जो विवेचन किया है, उन दोनो की तुलना लाभदायक होगी। शेक्सपीयर के साहित्य मे व्यक्ति पूजा के युग से वस्तु पूजा के युग की यात्रा की कहानी है। समाज मे पूजीपति वग के उदय के साथ जिस स्वेच्छाचारिता, हिंसा और व्यक्तिवादी भावना का आगमन हुआ, उसकी अभिव्यक्ति एलिजाबेथकालीन साहित्य मे हुई। गृहयुद्ध को सामन्तवादी के विरुद्ध बुर्जुआ क्रांति का दूसरा चरण मानकर कॉडवेल ने अग्रेजी साहित्य मे उसकी कलागत अभिव्यक्ति को तीन हिस्सो म बाटा है—(1) एलिजाबेथ के बाद का युग या क्रांति के पहले का काल, (2) क्रांति का काल, (3) क्रांति के बाद का काल। कॉडवेल ने इन तीनो कालो की कविता, नाटक और उपन्यास के वस्तुतत्त्व और शलीगत परिवतनो का विवेचन किया है। इन आदि प्रक्रिया की आध्यात्मिकता की खूब चर्चा होती है, लेकिन उस आध्यात्मिकता

के मूल स्रोतों की चर्चा कम ही की जाती है। कॉडवल ने आध्यात्मिकता के मूल स्रोतों की ओर संकेत किया है। इन ि । जीवन से दूर होती हुई कविता में क्रमश जटिलताओं का आ। बौद्धिक जटिलता ही उनकी कविता की विशेषता हो गई। अध्यात्मवादी कविता राजदरबार और लोकजीवन दोनों से कटी हु ने मिल्टन की कविता को अभिव्यंजना शिल्प और भाषा की द से अधिक क्रांतिकारी माना है। मिल्टन की कविता की की दरबारी अंग्रेजी भाषा से काफी अलग किस्म की है। अंग्रेजी के मिल्टन को अंग्रेजी भाषा को भ्रष्ट करने वाला कवि मानते हैं ले। मिल्टन की भाषा की शक्ति और नवीनता की प्रशंसा की है। मिल्ट की राजनीतिक गतिविधियों से भी सम्बद्ध था। 'पराडाइज़ लोस्ट ईश्वर के संघर्ष में तदयुगीन राजनीतिक सामाजिक संघर्ष की छ लोगों को यह आश्चर्यजनक बात लगती है कि मिल्टन के इस ड ईश्वर से अधिक समर्थ चालाक और जीवंत रूप में उभरता ह रिगेंड' में निम्न मध्यवर्गीय निराशा के कारण धर्म और ईश्वर जाकर आत्मसमर्पण की भावना व्यक्त हुई है। ि जाबे । व्यक्ति के अंतर्जगत का चित्रण प्रधान था, लेकिन रेस्टोरेशन काल परिवेश और बाह्य जगत का चित्रण प्रमुख हुआ। रेस्टोरेशन काल अधिक प्रतिनिधि चरित्र चित्रित हुए हैं। इस काल के साहित्य में खूब विकास हुआ।

कॉडवेल ने 'इल्यूज़न एण्ड रियलिटी' में उपन्यास को जी की बौद्धिकता की देन कहा है। 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' में भी इस पुष्टि ही हुई है। उपन्यास को बुर्जुआ सभ्यता का महाकाव्य भी क कॉडवेल ने यूरोप के प्रारम्भिक उपन्यासों के विश्लेषण से उन काव्यत्व सिद्ध किया है। यह विचारणीय तथ्य है कि यूरोप में । में यथार्थ का जो भव्य चित्रण मिलता है, वह परवर्ती उपन्यासों में सार्वेन्टीज और डेफो के उपन्यासों में यथार्थ और फंटेसी के संयोग सामाजिक यथार्थ का जो प्रामाणिक चित्रण हुआ है उसे कॉडवे सभ्यता के बचपन की देन कहा है। मार्क्स ने भी यूनानी कला की स्वीकार करते हुए उसे मानव सभ्यता के ऐतिहासिक या ।मा ि अभिव्यक्ति कहा था। डेफो के उपन्यासों की कॉडवेल ने विस्तृत लेकिन स्कॉट की महानता को स्वीकार करते हुए भी उसे उतना दिया है जितना जार्ज लूकाच ने 'ऐतिहासिक उपन्यास' नामक दिया है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि वाल्टर स्कॉट और ।५८

आलोचक उतना महत्त्वपूर्ण नही मानते हैं जितना इग्लड के बाहर यूरोप मे उन्हे माना जाता है। वाल्टर स्कॉट सम्बन्धी कॉडवेल और लूकाच के मूल्याकनो मे जो अन्तर है, वह वास्तव मे साहित्यालोचन की ब्रिटिश परम्परा और यूरोपीय परम्परा का अन्तर है। यही साहित्यिक अभिरुचि और उससे प्रभावित मूल्याकन का प्रश्न भी सामने आता है, जो मार्क्सवादी समीक्षा मे एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न रहा है।

सामतवाद मे दबी हुई वैयक्तिकता पूजीवाद के आने पर निजी सम्पत्ति के अधिकारो के साथ विशेष प्रबल हो उठी। इस वैयक्तिकता और निजी सम्पत्ति के अधिकार को प्रारम्भ मे राजकीय सरक्षण भी मिला। व्यक्ति की स्वतत्रता सामतवाद और धार्मिक प्रभुओ के खिलाफ एक हथियार बन गई। इस प्रकार बुर्जुआ विचारधारा मे स्वतत्रता, वैयक्तिकता और आत्माभिव्यक्ति पर विशेष बल दिया गया, लेकिन ये सारे आदर्श तभी तक पूजीवादी व्यवस्था मे बर्दाश्त किए जाते हैं जब तक स्वय इनसे बुर्जुआ वर्ग और व्यवस्था को खतरा नही होता। निजी सम्पत्ति के अधिकार के कारण ही बडे पूजीपतियो और छोटे पूजीपतियो का जो वर्ग बना उनमे परस्पर अपने-अपने स्वार्थ के लिए क्रमश सघर्ष बढने लगा। यद्यपि दोनो का लक्ष्य आम जनता का शोषण था, तो भी इन दोनो के स्वार्थ आपस मे टकराते थे। ऐसी स्थिति मे छोटे पूजीपतियो ने आम जनता की सहायता से बडे पूजीपतियो के खिलाफ विद्रोह किया। कॉडवेल के अनुसार अग्रेजी कविता के स्वच्छदतावादी आदोलन मे निम्न पूजीपति और मध्यवर्ग के विद्रोह की भावना, आदर्शवाद और आशावाद की अभिव्यक्ति हुई है। मूलत बुर्जुआ वर्ग के अग होने के कारण निम्न पूजीपति और मध्यवर्ग का यह विद्रोह सामाजिक क्राति न होकर व्यक्ति का विद्रोह है, प्रचलित व्यवस्था की व्यावसायिकता के खिलाफ वैयक्तिकता का विद्रोह है, इसमे व्यक्ति के अह का विस्फोट ही अधिक दिखाई देता है। यह दूसरा स्वच्छदतावादी आदोलन पहले स्वच्छदतावादी आदोलन से कई समानताओ के बावजूद काफी भिन्न किस्म का था। दोनो के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कॉडवेल ने दूसरे स्वच्छदतावादी आदोलन के प्रमुख कवियो और उनकी कविता की जो आलोचना की है, उसमे विवेचन की मौलिकता और विचारो की नवीनता भी है।

सारी दुनिया के बुर्जुआ साहित्य मे जो 'करुणा की भावना' मिलती है, उसका विश्लेषण कॉडवेल ने अग्रेजी साहित्य के सदर्भ मे किया है। कॉडवेल के अनुसार डिकेन्स के उपन्यासो मे यह करुणा की भावना पहली बार प्रभावशाली रूप मे व्यक्त हुई है। गोपिता को सर्वाधिक दुखी वर्ग के रूप मे देखने वाली इस करुणा के कई रूप और प्रयोग होते हैं। कभी ऊपर वाले वर्ग के खिलाफ हथियार के रूप मे इसका इस्तेमाल किया जाता है, जैसाकि डिकेन्स, वेल्स, गीसिंग, बेनेट

और शॉ के साहित्य मे हुआ है, तो कभी अपने ही वग के प्रति विद्रोह की भावना के आधार के रूप मे इसका प्रयोग होता है, जैसा कि गाल्सवर्दी के साहित्य म हुआ है, और कभी कभी तो नीचे से उभरत हुए नये वग के खिलाफ भी इसका प्रयोग होता है। सवहारा वग की चेतना को अधिक सजग और सघषशील बनाने मे इस करुणा की भावना का उपयोग कम ही साहित्यकारा मे मिलता है। अधिकाश बुजुआ साहित्यकार सवहारा वग को एक दु खी और दयनीय वग स अधिक नही समझते हैं। केवल सवहारा वग को क्रातिकारी वग के रूप मे देखना और उनकी क्रातिकारी चेतना को शक्तिशाली बनाना इन बुजुआ साहित्यकारा के लिए न तो सुखद है और न ही सभव। पूजीवादी व्यवस्था के शोषण और दमन के विरुद्ध विभिन्न वर्गों म जो असन्तोष की भावना थी, उसकी अभिव्यक्ति अठारहवी और उन्नीसवी शताब्दी के अंग्रेजी उपन्यासा म हुई। अंग्रेजी उपन्यासा के क्षेत्र म नारी लेखिकाओ का आगमन एक महत्त्वपूण घटना है। ब्राटी के उपन्यास 'वुदरिंग हाइट्स' को राल्फ फाक्स ने 'गद्य मे कविता' कहा है कॉडवेल ने इस उपन्यास के कवित्व का विश्लेषण किया है। काडवेल ने ठीक ही लिखा है कि नारी विद्रोह की भावना की व्यजना के कारण ही इस उपन्यास मे मनोवेगो का जो प्रबल आवेग दिखाई देता है, उसके कारण यह उपन्यास कविता के समान प्रभावशाली और ममस्पर्शी लगता है। पूजीवाद की साम्राज्यवादी उपनिवेशवादी व्यवस्था और मनोवृत्ति की देन किपलिंग के उपन्यासो के बारे मे कॉडवेल ने विस्तार से लिखा है। 'पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम, दोनो कभी नही मिल सकते' इस बहुचर्चित वक्तव्य के पीछे सक्रिय उपनिवेशवादी मानसिकता का कॉडवेल ने विश्लेषण किया है। *पूजीवाद के चरम विकास की दशा म वस्तु पूजा, गला काटू स्पर्द्धा और हर चीज* के बाजारू हो जाने के कारण मानवीय सम्बन्धो का जो अमानवीयकरण होता है, उससे प्राय सवेदनशील साहित्यकार की चेतना बेचन होती है, लेकिन इस व्यवस्था म मुक्ति के उपाय को ठीक से न पहचान पाने के कारण ऐसे सवेदनशील साहित्यकार कभी कभी निराशावादी भी हो जाते हैं—यही कवि और उपन्यासकार हार्डी की ट्रैजडी है।

आधुनिक काल म बुजुआ सभ्यता के जीवन, कला और विज्ञान के प्रतिमानो की निरपेक्षता खडित हुई और उनकी सापेक्षता के बोध से एक सर्वातिशायी वैचारिक सकट उत्पन्न हुआ। मानवीय व्यक्तित्व के अभिनाश के सकट का विस्तृत विवेचन, आधुनिक उपन्यास साहित्य के सदभ मे लूकाच ने अपन ग्रथ समकालीन यथाथ का अथ मे किया है। इस सकट के परिणामस्वरूप यूरोप म कई नवीन आत्मवादी दशनो का भी आविर्भाव हुआ। कॉडवेल के अनुसार मानव चेतना और परिवेश के इस नवीन सम्बन्ध-बोध का गहरा प्रभाव

उपन्यास के रूप पर भी पडा। कॉडवेल ने इस उपन्यास के क्षेत्र मे 'ज्ञान मीमासा सम्बन्धी सकट' (the epistemological crisis in the novel) कहा है। इस सकट के कारण उपन्यास के रूप म महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। हेनरी जेम्स, बानरड, मूर, बेनेट, जेम्स ज्वायस, रिचडसन, हेमिंग्वे, डी० एच० लारेन्स और वर्जीनिया वुल्फ आदि के आगमन के साथ ही उपन्यास के रचना विधान और भाषा शैली मे पर्याप्त परिवर्तन हुए। युगीन यथार्थ, यथार्थ-बोध और सवेदनशीलता के परिवर्तन के कारण ही उपन्यास के रूप म यह बदलाव आया। उपन्यास के लक्ष्य और स्वरूप के इस परिवर्तन पर कॉडवेल ने विस्तार से लिखा है। अग्रेजी साहित्य म इस काल म कविता के क्षेत्र मे रूपवादी प्रवृत्तियाँ प्रबल हो रही थी और उपन्यास के क्षेत्र म भी वस्तुतत्व स अधिक महत्त्वपूर्ण रूप की कलात्मकता बन गई। रिचडसन, वुल्फ और कैथरिन मैं सफिल्ड की रचनाओ की विवेचना के साथ ही काडवेल न पूजीवादी समाज मे नारी की स्थिति और रचनाशील नारी लेखिकाओ की मानसिकता का भी विश्लेषण किया है। यहाँ उन्होने आधुनिक काल के प्रमुख उपन्यासकारो पर विस्तार से विचार किया है। 'रोमास एड रियलिज्म' म डी० एच० लारेन्स की कोई विशेष, चर्चा नही है, क्योकि 'स्टडीज इन ए डाईग कल्चर' म कॉडवेल ने उसके उपन्यासो पर विस्तार से लिखा है।

कॉडवेल न अपन समकालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य पर विस्तार स विचार किया है। इसका एक कारण तो यही है कि वे अपने समकालीन रचनात्मक और आलोचनात्मक साहित्य से एक रचनाकार और आलोचक की हैसियत स स्वय जुडे हुए थे और समकालीन साहित्य की गतिविधियो स पूरी तरह परिचित थे। इसलिए बीसवी शताब्दी के अग्रेजी साहित्य का उनका विवेचन प्रामाणिक, मौलिक और विश्वसनीय है। अग्रेजी कविता के वस्तुतत्व और रूप के विकास का विवेचन 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' के चार अध्यायो मे भी है। 'रोमास एण्ड रियलिज्म' मे आधुनिक अग्रेजी कविता के वस्तु-तत्त्व और शिल्प सम्बन्धी विवेचन मूल्याकन पर विशेष बल दिया है। 'इल्यूजन एण्ड रियलिटी' मे बीसवी शताब्दी की अग्रेजी कविता पर जो विचार किया गया है वह अधिकाशत 'कला कला के लिए', प्रतीकवादी, भविष्यवादी और अतियथार्थवादी यूरोपीय कला आन्दोलनो से जुड़ा हुआ है। लेकिन 'रोमास एण्ड रियलिज्म मे उन्होने अपनी पीढी के साहित्यकारो पर नए ढग से विचार किया है। आधुनिककाल म कला की स्वायत्तता के सिद्धान्त के रूप म पूजीवादी व्यावसायिकता के विरुद्ध जो सौन्दर्यवादी विद्रोह हुआ, उसके परिणामस्वरूप कविता की सामाजिकता घटी और कविता नितात वैयक्तिक होने लगी, 'कला कला के लिए' का वास्तविक तात्पर्य 'कला मेरे लिए' हो गया। कला दर्शन मे

इस वैयक्तिकता के प्रभाव के कारण कविता की भाषा का भी रूप बदला, उसमे शब्दो के निजी अथ सदभ गढे गए और बिम्ब तथा प्रतीकवादी कविता म दुरूहता और अस्पष्टता बढने लगी। इस दुरूहता और अस्पष्टता को ही कुछ आलोचको ने कविता की एक विशेषता मान लेने का भी आग्रह किया। परिणाम यह हुआ कि कविता के पाठक क्रमश कम होत गए। वास्तव मे कविता यथाथ के प्रति कवि का अनुभूतिपरक चिंतन है। कविता की सामाजिकता के लिए यह जरूरी है कि कवि के पास एक ऐसी सामाजिक विश्व दृष्टि हो, जिसका मेल समाज की वास्तविकता स हो। तात्पय यह है कि कवि के लिए लोक हृदय की पहचान' आवश्यक है। समाज की व्यापक चेतना से जुडी हुई सामाजिक विश्व दृष्टि के अभाव मे कविता कवि की निजी अनुभूतिमात्र बन जाती है, उसमे व्यक्तिवाद बढता है कवि आत्मबद्ध हो जाता है कविता मे अस्पष्टता और दुरूहता आती है कविता के पाठक घटते हैं और इस प्रकार कविता असामाजिक हो जाती हे। आधुनिक काल के अग्रेजी के कुछ कवियो ने ऐसी विश्व दृष्टि की खोज का प्रयत्न किया है। कविता की प्रेषणीयता की समस्या से चिंतित होकर ही टी० एस० एलियट ने 'साहित्य की परम्परा के बोध' को कविता की प्रेषणी यता के लिए आवश्यक माना है। उसके अनुसार पुरान लेखको को पढते समय पाठको के मन म एक भावात्मक साझेदारी सम्भव होती है। यही कारण है कि उसने 'द वेस्ट लड' मे कई भाषाओ और कई युगो के कवियो और काव्य परम्पराओ को एकत्रित करने का प्रयत्न किया है। लेकिन यह एक भ्रम ही है, क्योकि जब तक यथाथ के प्रति कवि और पाठक के बीच एक सामान्य विश्व दृष्टि नही होगी तब तक अतीत के लेखको और उनकी रचनाओ के स्मरण के कारण ही कविता मे प्रेषणीयता नही आएगी। 'वेस्टलैड मे अतीत की भाषा मे वतमान की चेतना के चित्रण का प्रयास है। आधुनिक समस्याओ के समाधान के लिए अतीत की शरण मे जाना कई कारणो से आधुनिक सवेदना के प्रतिकूल है। प्राय ऐसा अतीतजीवी दृष्टिकोण मानव इतिहास की प्रगति म बाधक ही होता है। काडवेल ने एलियट की निर्वैयक्तिकता, वस्तुप्रतिरूपता और विश्वासो के सिद्धातो की प्रामाणिक आलोचना की है।

कॉडवेल न अपन समकालीन नई पीढी के ऐस कविया की कविता काव्य-सिद्धात और जीवन दृष्टि का सहानुभूतिपूण विवेचन किया है जो माक्सवादी दशन के प्रभाव म थे। आडेन स्पेडर आदि कवि प्रारम्भ म माक्सवादी विचारधारा से प्रभावित होने के बावजूद भी बाद म पुन बुर्जुआ व्यवस्था और विचारधारा के पक्षधर क्यो हो गए, यह विचारणीय है। कॉडवेल ने इन कविया की विचारधारा, कला दृष्टि और सामाजिक समझदारी का जो विश्लेषण किया है उसस स्पष्ट हो जाता है कि इनका यही हाल होना था। कॉडवेल ने लिखा है

कि ये कवि समझते हैं कि बुजुआ संस्कृति मर रही है, इसका एकमात्र उपाय क्रांति ही है, फिर भी वे बुर्जुवा संस्कृति के संकट और उसके बचाव की व्याख्या बुर्जुआ विचारधारा के अनुसार ही करते ह। ये लोग अपनी निजी दुनिया मे जीते हैं और सामाजिक सम्बन्धो को ब धन मानते हैं। कॉडवेल ने लिखा कि य साम्यवादी नही बल्कि अराजकतावादी हैं। वैसे कॉडवेल न यह आशा की थी कि ये युवा, ईमानदार और समझदार कवि बुजुआ घेरे स बाहर निकलकर पूरे कम्युनिस्ट बन जाएगे और एक नई शक्तिशाली कविता की रचना मे समथ होगे, लेकिन ऐसा नही हुआ। नई पीढी के इन कवियो की चर्चा के सन्दभ म ही कॉडवेल ने कवि कविता और क्राति के सम्बन्धो पर भी विचार किया है।

अन्त मे कॉडवेल ने अपन इस अध्ययन के उद्देश्य की चर्चा की है। रोमास एण्ड रियलिज्म सौंदयशास्त्रीय अध्ययन की पुस्तक नही है, क्योंकि सौंदयशास्त्रीय अध्ययन म कला की रचना और आस्वादन की प्रक्रिया मे निहित और व्यक्त सौंदयबोध और जीवन मूल्यो की समालोचना होती है। कॉडवेल के अनुसार किसी विशेष सामाजिक परिस्थति मे कुछ ऐस सामान्य नियम होते हैं जिनस साहित्य की रचना और उसका आस्वादन दोनो ही अनुशासित होते हैं। इन नियमा म लेखक और पाठक समान रूप से प्रभावित होते है। ऐसे सामान्य सामाजिक नियम और साहित्य के विभिन्न रूपो पर उनके प्रभाव के अध्ययन का प्रयास इस पुस्तक मे हुआ है। जब एक संस्कृति विघटित होती है, जब हम एक सामान्य विश्व दृष्टि खो देते हैं, तो सौंदय-बोध के मूल्य भी विघटित होत हैं और जीवन के मूल्यो के साथ कला के मूल्य भी खोखले हो जाते हैं। ऐसी स्थिति मे एक नई कला, कला दष्टि, विश्व दृष्टि और नवीन सौंदयबोधी मूल्यो के सजन के लिए कला के सामाजिक उत्पत्ति के सिद्धान्त पर पुर्नविचार की जरूरत होती है। एक नवीन जीवन और साहित्य के विकास के लिए ऐसा विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। रोमास एण्ड रियलिज्म' मे उपन्यास की आलोचना मे ही कॉडवेल की मौलिकता और नवीनता क दशन होत हैं। रोमास एण्ड रियलिज्म से यह भी सिद्ध होता है कि साहित्य और कलाओ मे वास्तविक विरोध शास्त्रीयतावाद और स्वच्छन्दतावाद मे नही, बल्कि स्वच्छन्दतावाद और यथाथवाद के बीच होता है। इसम यथाथ और भ्रम का द्वन्द्व यथाथ और रोमास के द्वन्द्व के रूप म सामने आया है।

अंग्रेजी कविता, नाटक और उपन्यास के लगभग तीन शताब्दियो के समृद्ध विकास को करीब सौ पृष्ठो के निबन्ध म समेटने के प्रयास की जो सीमाएँ हो सकती हैं व इस पुस्तक मे भी है। इसलिए कॉडवल न इन तीन शताब्दियो के अंग्रेजी साहित्य का इतिहास न लिखकर केवल प्रतिनिधि प्रवत्तियो रचनाओ और रचनाकारो के विवेचन मूल्याकन का ही प्रयत्न किया

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि साहित्य के रूप में और शिल्प के विकास और परिवर्तन की जटिलताओं का सीधे सामाजिक-आर्थिक आधार से जोड़ने के सरलीकरण के जो खतरे हो सकते हैं उनके प्रति सावधान रहने के बावजूद 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' में ऐसे सरलीकरण से उत्पन्न कमजोरियाँ मिल जाएँगी। कला और साहित्य के स्वरूप के निर्माण में सामाजिक-आर्थिक आधार की महत्त्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार करने के बावजूद कला की सापेक्ष स्वतन्त्रता भी विचारणीय है। कला और साहित्य के विकास में उसके अपने आन्तरिक नियम भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। अनेक बार सामाजिक विकास और कलात्मक विकास में असन्तुलन भी होता है। इन सबके बावजूद सामाजिक परिवर्तन और साहित्य रूप के अन्त सम्बन्ध के विश्लेषण, विभिन्न साहित्य रूपों की परस्पर प्रभावशीलता के विवेचन तथा कला और साहित्य सम्बन्धी अपने नवीन महत्त्वपूर्ण अवधारणाओं के कारण 'रोमांस एण्ड रियलिज्म' की महत्ता सदा अक्षुण्ण रहेगी।

दुनियादारी और ईमानदारी की विडम्बना

Anyone who cannot cope with life while he is alive needs one hand to ward off a little his despair over his fate but with his other hand he can Jot down what he sees among the ruins, for he sees different and more things than the others, after all he is dead in his own life time and the real survivor'

—काफ्का की डायरी, 19 अक्तूबर, 1921

मौलिक जीवन दृष्टि और असाधारण प्रतिभा वाले युगद्रष्टा कलाकार व्यावहारिक जीवन में असफल और जीवन काल में लोकप्रिय न होने पर भी अपनी रचनाओं के कारण मरने के बाद अमर होते हैं। मुक्तिबोध की जीवन-कथा समाज और अपने प्रति ईमानदार संवेदनशील साहित्यकार के जीवन की एक अविस्मरणीय ट्रैजडी है। इस ट्रैजडी के लिए उत्तरदायी स्थितियों, परिस्थितियों शक्तियों और व्यक्तियों की खोज और पहचान मुक्तिबोध की जीवन कथा को समझने के लिए अनिवार्य है। मुक्तिबोध जीवन-भर जनविरोधी समाज-व्यवस्था और विचारधारा के खिलाफ संघर्ष करते रहे। समझौता के बदले संघर्ष की राह पर चलने वालों की जो हालत इस व्यवस्था में होती है, वही मुक्तिबोध की भी हुई। लेकिन यह भी सच है कि 'मनुष्य को नष्ट किया जा सकता है परन्तु उसको परास्त नहीं किया जा सकता।' (हेमिंग्वे)

मुक्तिबोध अपने जीवन में प्रायः उपेक्षित रहे, उनका कवि व्यक्तित्व विचारणीय कम ही समझा गया। शमशेर ने ठीक ही लिखा है कि 'यदा-कदा विरल अपवादों को छोड़कर प्रायः ही प्रकाशकों, संपादकों, आलोचकों और साहित्यिक-संस्थाओं ने—वे दक्षिणपंथी हों या 'वामपंथी' या बीच के अथवा व्यवसायी—निरंतर भीरुता के साथ और अज्ञान और प्रमादवश या राजनीतिक स्वार्थ और दलबंदियों के कारण—सदा ने मिलकर इसकी उपेक्षा ही की है।' (चाँद का मुँह टेढ़ा है, पृ० 20)। कारण यह है कि मुक्तिबोध न तो अपने स्वार्थ के लिए किसी से अपने सिद्धान्तों का सौदा करने को तैयार थे, न सुविधा के लिए समझौता करना उन्हें पसन्द था और न उनसे किसी का स्वार्थ ही सिद्ध हो सकता था। मौत के बाद मुक्तिबोध अचानक हिन्दी साहित्य पर छा गए। मुक्तिबोध के जीवन और साहित्य के प्रति अचानक हिन्दी-जगत में सहानुभूति

जनवादी सिद्धान्तो के लिए सघर्ष की जिन्दगी जीने वाले सवेदनशील कलाकार व्यावहारिक जीवन म प्राय असफल हो जाते हैं। जो लेखक स्थिर और स्थापित व्यवस्था के अनुकूल अपने को न बदलकर समाज और साहित्य की प्रचलित व्यवस्था को तोडकर एक नयी अधिक मानवीय व्यवस्था के लिए प्रयत्न करता है, व्यवस्था के ठेकेदार उसे प्रयत्नपूर्वक अलक्षित रखने मे ही अपना कल्याण समझते हैं। समकालीन साहित्यकारो की भ्रष्टता और दलबन्दी के कारण भी कभी कभी प्रतिभाशाली कलाकार की पहचान नही हो पाती है। मुक्तिबोध ने अपने जमाने की साहित्यिक दलबन्दी के कटु अनुभव के बाद यह ठीक ही कहा है कि 'जो व्यक्ति साहित्यिक दुनिया से जितना दूर रहेगा, उसमे साहित्यिक बनने की सभावना उतनी ही ज्यादा बढ जाएगी। साहित्य के लिए साहित्य से निर्वासन आवश्यक है।' ('एक साहित्यिक की डायरी')। कुछ ऐसे भी कलाकार होते हैं जिनको व्यापक ख्याति तो मरने के बाद ही मिलती है, लेकिन उनके जीवन काल मे भी कुछ पारखी व्यक्ति उनकी प्रतिभा को पहचान लेते है। ख्याति एक सामाजिक स्थिति है, सामाजिक स्वीकृति है। कलाकार अपनी मौलिकता या अद्वितीयता के कारण भी कभी कभी लोकप्रिय नही हो पाते। मुक्तिबोध जनवादी विचारक कवि है। उनकी कविता का वस्तु तत्त्व जनवादी है लेकिन कविता की सरचनात्मक मौलिकता, नवीनता और जटिलता तथा भाषा मे सहज बोधगम्यता के अभाव के कारण भी व लोकप्रिय कवि न हो सके। वास्तव मे मुक्तिबोध की कविता का वस्तु तत्त्व जिस जनता के लिए उपयोगी है उनमे से अधिकाश लोगो के लिए उनकी कविता की भाषा सहज बोधगम्य नही है और जिनके लिए उनकी कविता की भाषा बोधगम्य है उनम से अधिकाश लोगो के लिए उनकी कविता म व्यक्त विचारधारा खतरनाक है। वस्तु तत्त्व और अभिव्यजनाशिल्प के इस अर्न्तविरोध से कारण भी मुक्तिबोध की कविता शीघ्र लोकप्रिय न हो सकी। वैसे मुक्तिबोध की कविता की अलोकप्रियता का दायित्व जितना उनके अभिव्यजनाशिल्प पर है उससे अधिक उस व्यवस्था पर है जो जनता को भीड समझने और मूख बनाए रखने मे ही अपना कुशल समझती है। जीवन मे लगातार विरोधी शक्तियो मे सघर्ष करने वाले मुक्तिबोध के लिए सिसरो के शब्दो मे क्या यह कहना ठीक नही होगा कि 'जो मरकर विजयी हुए हैं वे अगर जीवन म भी विजयी होते तो हर चीज कितनी भिन्न किस्म की होती।'

मुक्तिबोध के जीवन मे जटिलताए हैं और ऐसी जटिलताए ऐसे प्रत्येक व्यक्ति के जीवन मे होती हैं जो हर प्रकार के बाहरी दबावा के बावजूद अपने विचारो के लिए सघर्ष की जिन्दगी जीता है। जिन्दगी मे सरलता या सपाटता वहा होती है जहा बाहरी और भीतरी द्वन्द्व और तनाव का अभाव होता है। वैसे यह कहा जा सकता है कि आजकल कलाकार ही नही, आम आदमी का जीव

भी सघर्षों से खाली नही है। यही कारण है कि आजकल हर व्यक्ति का जीवन जटिलताओ का पुज है। लेकिन सघर्ष और उससे उत्पन्न होने वाली जटिलताओ के कई रूप और स्तर होते है। जनवादी विचारो के लिए विरोधी शक्तियो से लगातार सघर्ष करना और उससे उत्पन्न पीडा को सहना एक बात है और अपने अन्तमन की कुठाओ के द्वन्द्व को ही जीवन सघर्ष मान लेना और उससे उत्पन्न वेदना को आस्था की चीज समभकर उसका व्यवसाय करना एक भिन्न किस्म की बात है। मुक्तिबोध जैसे कलाकार के जीवन को समझने का अर्थ है उनके जीवन के अस्तित्व सघर्ष के प्रयासो को समझना। मुक्तिबोध के जीवन सघर्ष के बाहरी रूप के साक्षी व्यक्तियो, स्थानो और परिस्थितियो की खोज के प्रयत्न म लगन श्रम सामर्थ्य, गहरी जिज्ञासा तत्परता और तटस्थ विवेचन की आवश्यकता है। वास्तव म मुक्तिबोध के जीवन, व्यक्तित्व और साहित्य साधना के समग्र बोध आत्मीय विवेचन और प्रामाणिक पुनर्निर्माण के लिए 'निराला की साहित्य साधना' के लेखक रामविलास शर्मा जैसे रचनात्मक चितक की जरूरत है।

ले मोतीराम वर्मा लक्षित मुक्तिबोध म लेखक की लगन, तत्परता और गहरी जिज्ञासा का परिचय मिलता है। इस पुस्तक के आरम्भ मे रमेश मुक्तिबोध ने मुक्तिबोध के जीवन और उनके अस्तित्व सघर्ष के प्रयत्नो का सक्षिप्त लेकिन प्रामाणिक चित्र उपस्थित किया है। मुक्तिबोध के जीवन से सम्बन्धित सूचनाओ की दृष्टि से यह पुस्तक का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अश है बल्कि यह कहा जा सकता है कि शेषपुस्तक म इसके अतिरिक्त शायद ही कोई नयी सूचना मिलती हो। यह सम्भव है कि रमेश के लेख मे जिन तथ्यो की ओर केवल सकेत किया गया है पुस्तक के अगले अशो म उनकी पुष्टि और विस्तार ही हुआ है। मोतीराम वर्मा ने अपनी शोध यात्रा का विस्तृत विवरण डायरी के रूप मे किया है। इस डायरीनुमा यात्रा वर्णन से यात्रा की कठिनाइयो की जानकारी होती है यह भी लगता है कि लेखक ढेर सारी पुस्तकें और पत्रिकाएँ लेकर एक सच्चे विद्यार्थी की भाँति शोध यात्रा पर निकला है। कही कही डायरीनुमा उपन्यासो के समान यह मजेदार भी लगता है। लेकिन यह भी साफ है कि ऐसे स्थलो पर लक्ष्य अलक्षित हो गया है और यात्रा वर्णन ही लक्ष्य बन गया है। इस यात्रा वर्णन से ही पता लगता है कि मुक्तिबोध के साहित्य का एक बडा हिस्सा अब भी अप्रकाशित है। विभिन्न पत्र पत्रिकाओ मे विशेषत नया खून म, मुक्तिबोध ने अपने नाम से और कभी कभी छद्म नाम से भी समसामयिक सामाजिक राजनीतिक और साहित्यिक सस्थाओ तथा राष्ट्रीय-अतर्राष्ट्रीय गतिविधियो पर जो कुछ लिखा है वह सब असग्रहित है। मुक्तिबोध के जीवन, विचारधारा और साहित्य को समझने म ऐसी सामग्री से काफी मदद मिल सकती है इसलिए इनका सग्रह आवश्यक है। इस यात्रा वर्णन से यह भी पता चलता है कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओ म प्रकाशित मुक्तिबोध की ढेर सारी कविताएँ

यहा वहा बिखरी पडी हैं, उनका भी सग्रह और प्रकाशन जरूरी है। इन कविताओ के सग्रह और प्रकाशन के समय इस पर ध्यान देना जरूरी है कि उनमे भी पाठ भेद की समस्या उसी तरह न रह जाय जिस तरह 'चाद का मुह टेढा है' मे है। 'चाद का मुह टेढा है' की दो लम्बी कविताए 'चम्बल की घाटी मे' और 'अँधेरे मे' क्रमश अगस्त और नवम्बर, 1964 की 'कल्पना' म प्रकाशित हैं। 'कल्पना' मे प्रकाशित इन रचनाओ के पाठ से 'चाद का मुह टेढा है' मे प्रकाशित इन कविताओ के पाठ म अन्तर है। सभव है दूसरी कविताओ मे ऐसा ही पाठ भेद हो। ऐसा कैसे और क्या हुआ ? यह आश्चयजनक लगता है कि देखते ही देखते मुक्तिबोध कबीरदास हो गए। इस यात्रा वणन मे भावुकता से बचने के प्रयास के दावे के बावजूद मोतीराम वर्मा कई बार भावुक तो हुए ही हैं, कभी कभी मुक्तिबोध मे सम्बन्धित स्थानो और व्यक्तियो के सम्पक मे आने पर वे सोच विचार मे भी पड गए हैं। इस डायरी मे गली मुहल्लो, नली, मन्दिर, देवी-देवता और औघड बाबा का वणन पढकर तो यही लगता है कि 'बेकार का इतिवृत्त लिखकर 'पन्ने खराब किय गए हैं।

'लक्षित मुक्तिबोध' का सर्वाधिक महत्त्वपूण अश 'निवेदित साक्षात्कार' का है। मुक्तिबोध के आत्मीय जनो और मित्रो स मिलकर मुक्तिबोध के जीवन के बारे मे उनकी प्रतिक्रियाओ को उन्ही के शब्दो मे दिया गया है। 'निवेदित साक्षात्कार' को पढने स यह जाहिर होता है कि मुक्तिबोध जैसे साहित्यकार के करीब होने, रहने या जीने मात्र से ही उनको ठीक-ठीक समझना कितना मुश्किल है। पहला साक्षात्कार शरतचन्द्र मुक्तिबोध का है। शरतचन्द्र मुक्तिबोध, मुक्तिबोध के छोटे भाई हैं, उनके काफी करीब रहे हैं, मराठी के लेखक हैं और उन्होने मुक्तिबोध की कविताओ का मराठी मे अनुवाद भी किया है। इसलिए उनसे मुक्तिबोध के बारे मे प्रामाणिक और महत्त्वपूण जानकारी मिलने की उम्मीद की जा सकती है। उनका एक सस्मरण मेरे बडे भाई साहब' 'राष्ट्रवाणी' के 'मुक्तिबोध स्मृति अक' म निकला था। वह सस्मरण अच्छा और प्रभावशाली लगा था। 'लक्षित मुक्तिबोध' मे उन्होने मुक्तिबोध के सबध मे जो कुछ कहा है उससे मुक्तिबोध की दूसरी ही तसवीर बनती है जिसका इसी पुस्तक म दूसरे व्यक्तियो के मुक्तिबोध सबधी सस्मरणो और प्रतिक्रियाओ स कोई मेल नही बैठता। मुक्तिबोध जैसे लोग कभी कभी समाज, परिवार और अपने आप से भी एक साथ ही सघष करने के लिए मजबूर होते हैं। ऐसे म परिवार के मोर्चे पर लडना सर्वाधिक मुश्किल होता है क्योकि एक तो व्यक्ति पारिवारिक सबन्ध का जितना निजी स्तर पर सामना करता है दूसरे इस लडाई म कोई बहुत बडा उद्देश्य भी नही होता और तीसरे इसी मोर्चे पर हार होने की आशका भी सबसे ज्यादा की सर्वाधिक सभावना रहती है। मुक्तिबोध पारिवारिक सबन्ध मे काफी सित

हुए थे। शरतचन्द्र मुक्तिबोध की सूचनाएँ महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन मुक्तिबोध के व्यक्तित्व और कृतित्व के बारे में उनकी राय नितांत निजी ही मानी जाएगी। मुक्तिबोध के जीवन में एक बुद्धिजीवी मार्क्सवादी की कमजोरियाँ हो सकती हैं लेकिन वे वेदना की शेखी बघारने वाले व्यक्ति नहीं थे।

प्रभाकर माचवे ने मुक्तिबोध पर अन्यत्र भी लिखा है। वे यहां मुक्तिबोध को 'एलिएनेशन का केस' कहते हैं। मुक्तिबोध के बहाने माचवे ने मार्क्सवाद के बारे में भी अपनी राय दे दी है। मार्क्सवाद के बारे में माचवे की राय है कि 'खंडित व्यक्तित्व के लिए मार्क्सवाद उपयोगी दर्शन है।' क्या ही अच्छा होता अगर वे यह भी बतला देते कि पूर्ण व्यक्तित्व के लिए कौन-सा दर्शन उपयोगी है? क्या पूर्ण व्यक्तित्व के लिए कोई भी दर्शन जरूरी है ही नहीं? नेमिचन्द्र जैन के संस्मरण से मुक्तिबोध के वैचारिक विकास क्रम का पता चलता है। नेमिचन्द्र जैन के पास मुक्तिबोध के पत्र हैं जिनमें से कुछ 'आलोचना' में छपे हैं और शेष पत्रों का प्रकाशन जरूरी है। उन पत्रों से मुक्तिबोध के जीवन और व्यक्तित्व के बारे में नयी जानकारी मिलेगी। नेमिचन्द्र जैन की शिकायत है कि 'कुछ भी यहाँ हिन्दी में कहना खतरे से खाली नहीं है।' ऐसी ही शिकायत शरतचन्द्र मुक्तिबोध की भी है। यह विचारणीय है कि हिन्दी जगत् को ऐसा किसने बना दिया है जहाँ कुछ भी कहना खतरे से खाली न हो? लेकिन सच कहने के लिए 'अभिव्यक्ति के खतरे' उठाना क्या साहित्यकार का दायित्व नहीं है?

रोहिणीकुमार चौबे का कहना है कि मुक्तिबोध अपने ढंग से ही सही, एक कम्युनिस्ट की तरह जिए और मरे। मुक्तिबोध के संस्मरणों, लेखों, आलोचनाओं तथा उनकी स्मृति में आयोजित समारोहों में प्रायः इस सचाई का कहना किसी ने जरूरी नहीं समझा कि मुक्तिबोध एक कम्युनिस्ट थे। कुछ लोग तो जान-बूझकर मुक्तिबोध को कम्युनिस्ट या मार्क्सवादी के अतिरिक्त और सब-कुछ मानने को तैयार हैं। राहुलजी के साथ भी ऐसा ही हुआ था। मुक्तिबोध के साहित्य में मार्क्सवादी विश्व दृष्टि है या नहीं और अगर है तो कितनी और किस तरह की, यह तो उनके साहित्य में ही देखा समझा जा सकता है। लेकिन वे जीवन में भी लम्बे समय तक कम्युनिस्ट पार्टी के बाकायदा सदस्य रहे। 1942 में उज्जैन में उन्होंने प्रगतिशील संघ की स्थापना की, 1944 के अंत में राहुल जी की अध्यक्षता में फासिस्ट विरोधी लेखक कान्फ्रेंस का आयोजन किया और 1946 में 'यू एज' के गुप्त सर्क्युलर रहे। इन सब तथ्यों से आँख मूंद लेने में जितनी उदारता लगती है उससे अधिक धूर्तता है। यह अजीब विडम्बना है कि राहुलजी और मुक्तिबोध कम्युनिस्ट होने के कारण जिनके विरोध की मार सहते रहे वे ही उनकी मृत्यु के बाद उनको कम्युनिस्ट मानने से ही इन्कार करने लगे। रोहिणीकुमार चौबे और जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' की निश्चित राय है

कि मुक्तिबोध कम्युनिस्ट थे। इन दोनों व्यक्तियों के संस्मरण से मुक्तिबोध के राजनीतिक जीवन और गतिविधियों का ज्ञान तो होता ही है, शरत्चन्द्र के साक्षात्कार से उठने वाले सवालों के जवाब भी मिल जाते हैं। मुक्तिबोध के जीवन की अंतरंग गतिविधियों की जानकारी शैलेन्द्रकुमार की बातों से होती है। जीवनलाल वर्मा 'विद्रोही' का विचार है कि मुक्तिबोध के साहचर्य के कारण ही उनके सामंती किस्म के संस्कार मिट गए जब कि शरत्चन्द्र मुक्तिबोध का खयाल है कि 'भाई साहब के व्यवहार में सामंती ठाठ का हल्का सा रंग था। इसे आप सामंती एटीट्यूड कह सकते हैं।' वर्मा के कथन से यह भी मालूम होता है कि कई नौकरियां करने और छोड़ने के पीछे सचाई यह नहीं थी कि मुक्तिबोध कहीं टिकना ही नहीं चाहते थे, बल्कि वास्तविकता यह है कि उन्हें टिकने ही नहीं दिया गया। नतीजे की परवाह न करके अन्याय के खिलाफ लड़ पड़ने की उनकी आदत को ही कुछ लोगों ने अव्यावहारिकता भी कहा है। ठीक इसी तरह कुछ लोगों ने निराला की मस्ती और फक्कड़पन को ही उनकी आर्थिक दुर्दशा का कारण बताया था। मुक्तिबोध की आर्थिक दुर्दशा का एक मर्मस्पर्शी चित्र मेघनाथ कनोजे के साक्षात्कार से उभरता है। मुक्तिबोध को कोट जैसी मामूली चीज भी जीते जी उपलब्ध न हो पाई। जबलपुर के एक साहित्यिक समारोह में वे श्री कनोजे का ही कोट मांगकर ले गए थे। इसके बावजूद कुछ लोगों की राय में मुक्तिबोध की आर्थिक दुर्दशा वास्तविक नहीं, बनावटी थी। मुक्तिबोध अपने आसपास के नए लेखकों में लोकप्रिय थे क्योंकि वे नए लेखकों को उत्साहित करते थे और 'संघर्षरत निम्न मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी और साहित्य-प्रेमी अपना संघर्ष मुक्तिबोध में घटित होता हुआ पाते थे।' ('लक्षित मुक्तिबोध' पृ० 182)

इस पुस्तक के अंत में पत्राचार के अन्तर्गत मुक्तिबोध की कहानी 'विपात्र' के संदर्भ में वर्माजी का पत्र इस बात का प्रमाण है कि किसी रचना को लेखक की आत्मकथा या किसी दूसरे व्यक्ति की जीवनकथा समझकर आलोचना करने पर कितने गलत निष्कर्ष निकलते हैं। किसी भी रचना के आधार में मूल में लेखक के जीवन और परिवेश की वास्तविकता ही होती है लेकिन वह लेखक के व्यक्तिगत संदर्भों से मुक्त होकर ही साहित्य बन पाती है। उपन्यास या कहानी के पात्र और घटनाएं लेखक के निजी अनुभवों से उत्पन्न होकर भी प्रतिनिधि पात्र या घटना के रूप में ही पाठकों के अनुभव का हिस्सा बन पाते हैं। 'विपात्र' के पात्र और घटनाएं आज कल हिन्दुस्तान में हर जगह मिल जायेंगे और मिलते ही रहते हैं। लेखक समाज व्यवस्था की सामान्य वास्तविकताओं के चित्रण के लिए विशेष पात्रों और घटनाओं का सहारा लेता है। प्रेमचन्द की कहानी 'मोटेराम शास्त्री' में व्यवस्था के एक अंग पर चोट है और 'विपात्र' में [illegible]

कहानियों में 'किसी की निंदा या उपहास करने के लिए कहानी का आश्रय' नहीं लिया गया है क्योंकि प्रेमचंद और मुक्तिबोध जैसे लेखकों की निगाह व्यक्ति से अधिक व्यवस्था पर होती है।

वर्तमान व्यवस्था में सच कहने की कोशिश करना कितने जोखिम का काम है, यह मुक्तिबोध की पुस्तक 'भारतीय इतिहास और संस्कृति' के प्रकाशन और उस पर मध्यप्रदेश की सरकार द्वारा 19 सितम्बर, 1962 को प्रतिबंध लगाए जाने से साबित होता है। यह मुक्तिबोध के साहित्यिक जीवन की एक अविस्मरणीय घटना है। 'इस पुस्तक के विरोध में आंदोलन हुए, पत्रबेबाजी हुई, कुछ नगरों में पुस्तक की होली जलाई गई, साम्प्रदायिक तत्त्वों ने उग्र विरोध किया।' (तारसप्तक, द्वितीय संस्करण, पृ० 4)। मुक्तिबोध इस घटना से निश्चय ही बहुत मर्माहत हुए। 'लक्षित मुक्तिबोध' से इस महत्त्वपूर्ण घटना के बारे में कोई खास जानकारी नहीं मिलती। उम्मीद थी कि इस पुस्तक में मुक्तिबोध के आत्मीय जनों और मित्रों से इस घटना का विस्तृत परिचय मिलेगा। यह घटना कब हुई? क्यों हुई? मुक्तिबोध के पक्ष और विपक्ष में क्या क्या हुआ? इन सब बातों को प्रकाश में लाना जरूरी है। मुक्तिबोध ने इस घटना के सम्बंध में अठारह पृष्ठों में अपनी प्रतिक्रिया भी लिखी है, उसका भी प्रकाशन जरूरी है। इस घटना के ब्यौरे के प्रकाशन से कई व्यक्तियों के चरित्र और मुक्तिबोध से उनके सम्बन्धों की वास्तविकता भी सामने आएगी। भविष्य में मुक्तिबोध के जीवन और व्यक्तित्व की खोज करने वालों के लिए लक्षित मुक्तिबोध' कच्चे माल के रूप में महत्त्वपूर्ण है। वर्तमान समाज व्यवस्था में समाज और अपने प्रति ईमानदार व्यक्ति के सामने, एक कवि के शब्दों में, केवल दो ही विकल्प हैं—बेसबब जीना या सुकरात की तरह जहर पीना। जो बेसबब जीना पसंद नहीं करते उन्हें सुकरात की तरह जहर पीना ही पड़ता है—निराला, राहुल और मुक्तिबोध की जिन्दगी की यही कहानी है।

मुक्तिबोध का आलोचनात्मक संघर्ष

दुनिया भर के आलोचना के इतिहास म आलोचना के विकास मे रचना कार आलोचकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वैसे तो रचनाकारो की आलोचनात्मक चेतना के प्रमाण उनकी रचनाओ मे बहुत पुराने जमाने से मिलते हैं लेकिन साथक रचनाकार आलोचक आधुनिक युग की देन हैं। रचनाकारो ने आधुनिक युग मे आत्मरक्षा की भावना से पीडित होकर आलोचना लिखने का काम किया है और आलोचकों द्वारा अपनी उपेक्षा के उत्तर के रूप मे भी आलोचना लिखने का दायित्व सभाला है। यह भी देखा गया है कि अपने समय के आलोचनात्मक व्यवहार की असमथता को देखकर भी रचनाकार आलोचना के मैदान म उतरे हैं। कई बार रचनाकार नयी रचनात्मक प्रवत्ति या आदोलन को स्थापित करने, समझाने और व्यापक रूप से ग्राह्य बनाने की कोशिश करते हुए मजबूरी मे आलोचक बने हैं। यह भी देखा गया है कि रचना कार विरोधी रचनादष्टिया मे आलोचनात्मक सघष करते हुए आलोचना के विकास म सहायक हुए हैं।

रचनाकार आलोचक, चाहे सिद्धात निर्माण का प्रयत्न करें या व्यावहारिक आलोचना का, दोनो म ही उनके अपने रचनात्मक अनुभव के सहयोग की मुख्य भूमिका होती है, उनके रचनात्मक अनुभव के निष्कष ही आलोचना मे प्रकट होते हैं। यही रचनाकारा की आलोचना के सामथ्य और सीमा का बुनियादी कारण है। रचनाकार आलोचक की आलोचना बहुत कुछ उसकी रचनादष्टि से अनुशासित होती है इसलिये उसकी रचनादष्टि की शक्ति और सीमा आलोचना की शक्ति और सीमा बन जाती है। रचनाकार आलोचक अपनी रचनादृष्टि के अनुसार ही परम्परा और समकालीन रचनाशीलता की व्याख्या करता है और सिद्धात निर्माण का प्रयत्न भी करता है।

पूजीवादी समाज व्यवस्था के तीव्र वग-सघष के काल मे आलोचना विचार धारात्मक सघष का एक महत्त्वपूण साधन है। शासक-वग के सेवक रचनाकार और आलोचको ने आलोचना का ऐसा उपयोग किया है और शासक वग के विचार-धारात्मक प्रभुत्व के खिलाफ सघष करने वाले रचनाकार और आलोचकों ने भी आलोचना के हथियारा का इस्तेमाल किया है। किसी युग के साहित्य और

कला के क्षेत्र के आलोचनात्मक संघर्ष को शुद्ध साहित्य की सीमा के भीतर सीमित रखने का प्रयत्न वे करते हैं जो साहित्य-संसार की पूर्ण स्वायत्तता में विश्वास करते हैं और साहित्य को सामाजिक संदर्भों से दूर रखना चाहते हैं। लेकिन जो यह मानते हैं कि 'काव्य साधना, अधिकतर, काव्य रचना के क्षेत्र के बाहर होती है' (मुक्तिबोध), वे साहित्य और कला के क्षेत्र के आलोचनात्मक संघर्ष को साहित्य के बाहर के व्यापक सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष तक ले जाते हैं और साहित्य की आलोचना को अपने समय और समाज की आलोचना के रूप में विकसित करते हैं। हिन्दी आलोचना के क्षेत्र में यही काम मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक संघर्ष के माध्यम से किया। मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक संघर्ष के दौरान ही रचना और आलोचना से सम्बद्ध विभिन्न समस्याओं के बारे में जो महत्त्वपूर्ण और मौलिक चिंतन किया है उसके आधार पर वे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के बाद हिन्दी में सबसे बड़े साहित्य-विचारक सिद्ध होते हैं। उनके साहित्य चिंतन से हिन्दी के मार्क्सवादी साहित्य शास्त्र और सौन्दर्यशास्त्र के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ है। उन्होंने अपने आलोचनात्मक संघर्ष के दौरान ही हिन्दी आलोचना की भाषा को नये पारिभाषिक शब्दों से समृद्ध किया है।

इस निबंध का उद्देश्य मुक्तिबोध के साहित्य चिंतन के सभी पक्षों पर विचार करना नहीं है। इस निबंध में केवल यह देखने का प्रयास किया गया है कि मुक्तिबोध ने आलोचना को किस सीमा तक अपने समय और समाज के विचारधारात्मक संघर्ष का साधन बनाया है और उन्हें इस महत्त्वपूर्ण काम में कितनी सफलता मिली है।

प्रायः रचनाकारों के संदर्भ में 'साधना' और 'संघर्ष' की बातें बहुत की जाती हैं। कुछ लोगों के लिये तो इन शब्दों का प्रयोग महज अलंकार के रूप में ही होता है। जीवन की वास्तविकता के रूप में इनके दर्शन कुछ थोड़े से रचनाकारों के जीवन और साहित्य में ही होते हैं। प्रेमचंद, निराला और मुक्तिबोध जैसे रचनाकारों के साहित्य में संघर्ष और साधना की अग्निदीक्षा से सिद्ध खरेपन की चमक है। संघर्ष और साधना की यह कहानी अनेक दूसरे जनवादी लेखकों के जीवन और साहित्य की भी कहानी है। दुनियादारी और समझदारी के सहारे सफलता के चक्करदार जीनों पर चढ़ते हुए सुख और सुविधा के कुतुबमीनार की सर्वोच्च सीढ़ी तक पहुंचे हुए लेखक जीवन में चाहे जितने सफल दिखाई दें, रचनाशीलता के स्तर पर वे असफल ही रहेंगे। लेकिन दुनियादारी और ईमानदारी की विडंबना में पिसते हुए अवसरवादी दुनिया के गणित से वंचित, संघर्ष की अग्निदीक्षा से गुजरने वाले लेखक जीवन में असफल होकर

भी अपनी जनवादी रचनाओ के कारण रचनाशीलता के स्तर पर सफल और सार्थक सिद्ध होते हैं।

मुक्तिबोध ने उस समय लिखना प्रारम्भ किया था जब छायावाद का अवसान और प्रगतिवाद का उत्थान हो रहा था। छायावाद का काल भारतीय जनता के राजनीतिक, सामाजिक जागरण का काल था और इस जागरण की अभिव्यक्ति छायावाद की रचनाशीलता मे हो रही थी। प्रगतिवाद के दौर में भारतीय जनता की जागृत चेतना, सघर्षशील चेतना मे बदल रही थी और प्रगतिवादी साहित्य मे जनता की सघर्षशील चेतना की अभिव्यक्ति हो रही थी। मुक्तिबोध की साहित्य चेतना के निर्माण मे इन दोनो आदोलनो का योगदान है। सन् 1945 का भारतीय जनता के जीवन मे महत्त्वपूर्ण स्थान है, मुक्तिबोध के जीवन मे भी इस वर्ष का क्रातिकारी महत्त्व है। 1942 मे ही मुक्तिबोध का मार्क्सवाद की ओर झुकाव हुआ। मुक्तिबोध ने एक व्यवस्थित विश्वदृष्टि अर्जित करने के लिए गहन आतरिक सघर्ष और तलाश के फलस्वरूप मार्क्सवादी दर्शन को अपनाया था। इसलिए वे जीवन भर मार्क्सवादी साहित्य विचारक और रचनाकार बने रहे। उनके जमाने के अनेक दूसरे लेखक जैसे अचानक और अनायास मार्क्सवाद की ओर लपके थे वैसे ही कुछ दिनो बाद अचानक दूसरी ओर मुड गये। मार्क्सवाद के रूप मे मुक्तिबोध को एक वैज्ञानिक और ओजस्वी दृष्टिकोण प्राप्त हुआ, जिसके सहारे वे अपने समय के समाज और जीवन की वास्तविकताओ, समस्याओ और विचारधारात्मक सघर्ष को ही नही, इतिहास और परम्परा को भी ठीक से समझने म सफल हुए। एक मार्क्सवादी रचनाकार और विचारक अपने समय की समाज व्यवस्था और सास्कृतिक व्यवस्था की ऐतिहासिक स्थिति की पहचान करता है और पहचान बताता है, वह वर्तमान क विचारधारात्मक सघर्ष मे अपनी भूमिका निभाता है, और इन सबके साथ ही वर्तमान के विचारधारात्मक सघर्ष और भावी विकास के लिए परम्परा तथा इतिहास का पुनर्मूल्याकन भी करता है। प्रगतिशील आलोचना के लिए इतिहास और परम्परा का विवेकपूर्ण मूल्याकन विशेष जरूरी है, क्योकि अगर जनता के मुक्ति सघर्ष के सदर्भ म इतिहास और परम्परा के जीवत मूल्यो और जनवादी तत्त्वो का मूल्याकन और उपयोग नही होगा तो शोषक शासक वर्ग जनता के मुक्ति सघर्ष के विरुद्ध इतिहास और परम्परा का दुरुपयोग करेगा। मुक्तिबोध ने अपने आलोचनात्मक सघर्ष का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य के अपने समीपवर्ती इतिहास और परम्परा के पुनर्मूल्याकन से ही किया था। इस काम के लिए मुक्तिबोध ने छायावाद की प्रतिनिधि रचना कामायनी का पुनर्मूल्याकन किया।

छायावाद के प्रति लगाव मुक्तिबोध के मन मे बहुत गहरे [illegible] रूप मे आजीवन कायम रहा। उनकी आलोचना और रचना [illegible]

प्रमाण वडी आसानी से मिल सकते हैं। मुक्तिबोध ने प्रेमचन्द और छायावाद के काल के बारे में लिखा है कि वह भारतीय समाज के क्रांतिकारी आन्दोलन का काल था, प्रेमचन्द में इस सामाजिक क्रांति की सुसंगत अभिव्यक्ति हुई है और छायावाद में वह क्रांति व्यक्तिवाद के दायरे में प्रकट हुई है। मुक्तिबोध के अनुसार यह व्यक्तिवाद एक वेदना के रूप में सामाजिक गर्भितार्थों का लिये हुए था। छायावाद में जो सामाजिक गर्भितार्थ थे उनसे मुक्तिबोध का लगाव था प्रेम था और जो व्यक्तिवाद था उससे उनका अलगाव था, विरोध था।

मुक्तिबोध का छायावाद और उसकी प्रतिनिधि रचना 'कामायनी' से जो लगाव था उसके परिणामस्वरूप ही उन्होंने लम्बे समय तक 'कामायनी' का अध्ययन मनन किया और उस पर पुनर्विचार करने का दायित्व उठाया। 'कामायनी एक पुनर्विचार' के पहले भी मुक्तिबोध ने कामायनी एक अध्ययन नाम की एक पुस्तक लिखी थी, उसका प्रकाशन भी हुआ था। लेकिन लगता है मुक्तिबोध को अपने इस आलोचनात्मक प्रयास से संतोष न था इसलिये यह पुस्तक लगभग अज्ञात ही रह गयी। 'कामायनी एक पुनर्विचार' में बुनियादी बातें वही है जो कामायनी एक अध्ययन में है, कामायनी एक पुनर्विचार' में उन बातों का विकास और विस्तार दिखायी देता है और आलोचना पद्धति अधिक सुव्यवस्थित दिखायी देती है। कामायनी से मुक्तिबोध के लगाव का एक प्रमाण यह भी है कि जनवरी, 1964 की कल्पना के 'उर्वशी विवाद' में भाग लेते हुए जहां 'उर्वशी' की तीखी आलोचना के लिए उन्होंने भगवतशरण उपाध्याय की प्रशंसा की है वहीं 'राह चलते कामायनी की निंदा कर डालने' के लिये भगवतशरण उपाध्याय की आलोचना की है।

प्रश्न यह है कि क्या मुक्तिबोध ने केवल अपने निजी लगाव के कारण कामायनी' पर पुनर्विचार का प्रयत्न किया है या इस प्रयत्न के कुछ व्यापक सामाजिक, साहित्यिक और विचारधारात्मक अभिप्राय हैं? निश्चय ही मुक्तिबोध ने 'कामायनी' से अपने लगाव के कारण ही उस पर पुनर्विचार का प्रयास नहीं किया था, उस प्रयास के अनेक विचारधारात्मक और साहित्यिक कारण थे।

स्वाधीनता के बाद की हिन्दी कविता के इतिहास में प्रयोगवाद और नयी कविता के आधुनिकतावादियों ने या तो इतिहास और परम्परा से मुक्ति की घोषणा की, क्योंकि इतिहास और परम्परा का बोध उन्हें बोझ प्रतीत होता था या फिर अपनी कलावादी रचनादृष्टि और प्रतिक्रियावादी सामाजिक विचारधारा का औचित्य सिद्ध करने के लिए उन्होंने परम्परा ... स
का दुरुपयोग किया। इस प्रकार के ... का एव ...
नारायण साही के लेख 'लघु मान ... कविता पर
देखा जा सकता है। उस समय दूसरे ... १५१-५१

बार छायावाद की निन्दा करते थे, जबकि नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा मे छायावाद से अधिक रूमानियत, व्यक्तिवाद, रहस्यवाद और यथार्थ से पलायन की प्रवृत्तियां थीं। मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना लिखकर नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा के कवियो तथा आलोचको द्वारा परम्परा के दुरुपयोग का विरोध किया। उन्होंने 'कामायनी' मे व्यक्त सामाजिक यथार्थ और सामाजिक अभिप्रायों का विश्लेषण करते हुए इस धारणा का भी खण्डन किया कि छायावाद का अपने समय के सामाजिक यथार्थ से कोई सम्बन्ध नहीं था। 'कामायनी' की आलोचना का एक कारण यह भी था कि पुराने रसवादी और कलावादी आलोचक 'कामायनी' का नयी रचनाशीलता के खिलाफ एक हथियार के रूप मे प्रयोग कर रहे थे। मुक्तिबोध ने प्रगति विरोधी रसवादी और कलावादी आलोचकों के हाथों 'कामायनी' के दुरुपयोग का विरोध करने के लिए उसकी व्यवस्थित आलोचना लिखने का प्रयत्न किया। मुक्तिबोध ने 'कामायनी' के सहारे नयी रचनाशीलता का विरोध करने वाले पुराणपंथी आलोचकों के इरादों का भेद खोलते हुए लिखा है कि "प्रसादजी की कामायनी रसवादी छायावादी पुराण पंथियों के हाथ मे नवीन प्रगति शक्तियों के विरुद्ध एक अस्त्र बन गई। भाववादी आलोचकों ने प्रसादजी से आगे बढ़ कर कामायनी का रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक अर्थ लगाया और उसके उपयोगी तत्वों को प्रच्छन्न कर दिया। उन्होंने कामायनी के सम्बन्ध मे हर तरह की ऊबे विस्म की गलतफहमियां फैलायी। ('कामायनी एक पुनर्विचार' पृ० 138) मुक्तिबोध ने यहां जिन रसवादी पुराणपंथी भाववादी आलोचकों की चर्चा की है, उनके प्रमुख प्रतिनिधि नन्ददुलारे वाजपेयी थे, इसलिए मुक्तिबोध ने उनको अपने आक्रमण का निशाना बनाया। मुक्तिबोध का उद्देश्य एक ओर सामंती और बुर्जुआ (रसवादी और मनोवैज्ञानिक) आलोचना दृष्टियों का खण्डन करना था, जो कामायनी की आड़ मे नयी प्रगतिशील शक्तियों का विरोध कर रही थीं, और दूसरी ओर कामायनी के रहस्यवादी अर्थों का खण्डन करना था। मुक्तिबोध का एक और उद्देश्य कामायनी के बारे मे फैलाई गई तरह-तरह की गलत फहमियों को दूर करना और कामायनी के उपयोगी तत्वों को सामने लाना था। मुक्तिबोध ने उन आलोचकों की असलियत की ओर भी संकेत किया है जो वास्तविक जीवन की उपेक्षा करके केवल कृति की राह मे गुजर कर या कृति मे ही आलोचना की राह का अन्वेषण करके छायावाद की आलोचना करते थे। ऐसे आलोचकों के बारे मे मुक्तिबोध ने लिखा है कि 'छायावाद की आलोचना करने वाले हमारे महान आलोचक छायावाद के निःसहाय बच्चे हैं। छायावादी सम्मोह और उसके अद्वैतवादी प्रयास साहित्यिक आलोचना के मानदण्ड नहीं हैं। इन सम्मोहों, कल्पनास्वप्नों का भावुक [illegible]

है।' यहाँ मुक्तिबोध न ददुलार वाजपयी मे अतिरिक्त शातिप्रिय द्विवेदी जैस आलोचका को भी याद कर रहे हैं। व्यक्तिवादी आलोचना का एक रूप मनोवैज्ञानिक आलोचना म दिखाई पडता है। हिन्दी म इस मनोवैज्ञानिक आलोचना के प्रचारक डा० नगेन्द्र ने महादेवी वर्मा की बात दोहराते हुए बहुत पहले छायावाद को 'स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह' कहा था। मुक्तिबोध ने इस अत्यन्त प्रचलित लटके को याद करत हुए लिखा है कि 'छायावाद को स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह कहना बेमानी है' क्योंकि इससे छायावाद की कोई ऐतिहासिक सामाजिक या साहित्यिक विशेषता सामन नहीं आती। मुक्तिबोध न कामायनी को ऐतिहासिक महाकाव्य मानकर उसमे वेदकालीन युग प्रवृत्तियो को खोजने वाली आलोचना को निराधार और भ्रामक घोषित किया है।

मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना करने के लिए आलोचना का एक नया व्यवस्थित सैद्धान्तिक ढाचा और नयी पद्धति का निर्माण किया। उन्होंने मूल्याकन की प्रक्रिया और मूल्य निर्णय का आधार भी सामने रखा है। मुक्तिबोध ने रचना की उत्पत्ति के ऐतिहासिक सामाजिक परिवेश, रचना की अन्त प्रकृति और रचना के कलात्मक प्रभाव के विश्लेषण को आलोचना की सुव्यवस्थित पद्धति के लिय आवश्यक माना है। मुक्तिबोध ने कामायनी के कलात्मक सौंदय का विश्लेषण नही किया है, उन्होंने उसकी अन्तवस्तु को ही आलोचना का विषय बनाया है। मुक्तिबोध ने कामायनी म व्यक्त जीवन मूल्य, विश्व दृष्टि और यथार्थबोध का विश्लेषण मूल्याकन करत हुए अपनी सफल वस्तुवादी आलोचना दृष्टि का प्रमाण दिया है।

मुक्तिबोध म कामायनी को एक विशाल फटेसी माना है और एक फटेसी के रूप मे ही उसकी व्याख्या की है। इस निबध के प्रारम्भ मे ही कहा गया है कि रचनाकार आलोचक की आलोचना उसकी रचना दृष्टि से अनुशासित होती है। कामायनी को एक विशाल फैंटेसी मानकर उसके विश्लेषण और मूल्याकन म प्रवृत्त होन के पीछे मुक्तिबोध की अपनी रचना दृष्टि सक्रिय दिखाई देती है। मुक्तिबोध ने स्वय अपनी रचनाओ मे फटेसी का कुशलता से प्रयोग किया है और फटेसी म का य रचना की प्रकृति और परिणतियो से पूरी तरह परिचित होने के कारण ही उन्होने कामायनी का एक विशाल फैंटेसी के रूप मे सफल विश्लेषण किया है। उन्होंने लिखा है, 'प्रसादजी ने कामायनी मे एक विशाल फटेसी के अन्तगत स्वानुभूत जीवन समस्या को एक परिवेश से सलग्न कर उपस्थित किया है तथा उस जीवन समस्या का स्वचिंतित दाशनिक निदान प्रस्तुत किया है। यह जीवन समस्या, फटेसी रूप मे उपस्थित होकर फटेसी के नियमो म बधकर अपने मूल वास्तविक जीवन सन्दर्भ को अर्थात अपने मूल वास्तविक मानव सम्बन्ध क्षेत्र को—जिससे कि वह आवयविक सबध

रखती है—भूमिगत बना चुकी है—उस क्षेत्र को नपथ्य मे डालकर ही वह समस्या कल्पना चित्रों के रूप म उद्घाटित हुई है और कल्पना के गति नियमा म बध गई है"। (पुर्नविचार—पृ० 4) मुक्तिबोध इस बात से अपरिचित नही थे कि फटेसी का शिल्प बुनियादी तौर पर भाववादी रोमेंटिक शिल्प होता है, लेकिन उनकी यह भी मान्यता है कि भाववादी रोमेंटिक शिल्प के अतगत भी जीवन को समझने की दृष्टि यथार्थवादी हो सकती है। कामायनी म यही हुआ है।

मुक्तिबोध ने कामायनी मे व्यक्त यथार्थचेतना, जीवन मूल्य और विश्व-दृष्टि की विस्तृत समीक्षा की है। उनके अनुसार 'कामायनी' जीवन की पुनरचना है, एसे जीवन की पुनरचना कि जिस जीवन के प्रति लेखक अत्यन्त दीर्घकाल स सवेदनात्मक प्रतिक्रिया करता आया हो।' यही कारण है कि कामायनी मे फटेसी के आत्मपरक शिल्प मे 'एक विशेष कालखण्ड के भीतर उपस्थित व्यापक वास्तविकता को एक विशाल कल्पना चित्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है।' मुक्ति-बोध का कहना है प्रसादजी को अपने समय की पूजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकताओ, समस्याओ और विकृतियो का गहरा ज्ञान था और इन सब की अभिव्यक्ति कामायनी मे हुई है।

कामायनी मे मनु और श्रद्धा के चरित्र के माध्यम से जिस व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद की प्रतिष्ठा हुई है उन दोनो की मुक्तिबोध ने कडी आलोचना की है और इस प्रकार स्वातन्त्र्योत्तर हिन्दी साहित्य मे व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद के समथक रचनाकारो, विचारको और विचारधाराओ पर आक्रमण किया है। व्यक्तिवाद को हम सब जानते हैं इसलिए उसकी यहा विशेष चर्चा करने की कोई जरूरत नही है। लेकिन यह श्रद्धावाद क्या है? मुक्तिबोध ने लिखा है कि "श्रद्धावाद यह उद्घाटित करता है कि भाववाद, आदशवाद अनत किस प्रकार प्रस्तुत पूजीवादी विषमताओ के लिए क्षमाप्रार्थी होकर उन्हे नसीहत देता है और उन्ही से समझौता कर लेता है। वह वस्तुत अपने अन्तर्विरोधो से ग्रस्त पूजीवाद तथा व्यक्तिवाद का डिफेंस है, और कुछ नही'। (एक अध्ययन—पृष्ठ 120) कहने का तात्पर्य यह है कि जो सबध मनु और श्रद्धा म है वही व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद म है। श्रद्धावाद और व्यक्तिवाद मे कोई विशेष फर्क नही हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है कि 'श्रद्धावाद घनघोर व्यक्तिवाद है। ह्रासग्रस्त पूजीवाद का जनता को बरगलाने का एक जबरदस्त साधन है।' प्रश्न यह भी उठता है कि इस श्रद्धावाद के समथक कौन हैं? मुक्तिबोध का उत्तर है कि आज श्रद्धावाद उन लोगो का अस्त्र है जो जनता की न्यायपूर्ण लडाई के विरुद्ध शोषकों और शासको के चद टुकडो के प्रति जनता का आकर्षित करना चाहते हैं, यद्यपि हमारा शोषक शासक आज एक

की याद आने लगती है और वर्ग भेद, विषमता आदि की आलोचना मे समाजवाद की गूज सुनायी पडने लगती है। सभवत ऐसे लोगो को ध्यान मे रखकर ही मुक्तिबोध ने प्रसादजी की पूजीवादी सभ्यता की समीक्षा की समीक्षा की। वे कहते हैं कि द्वद्व की इस शाश्वतता का ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सबध नही है और पूजीवादी सभ्यता की समीक्षा किसी उच्चतर, बेहतर समाज व्यवस्था-समाजवादी समाज की दृष्टि से नही की गई है। लेकिन इसका यह अर्थ नही है कि मुक्तिबोध प्रसादजी की पूजीवादी सभ्यता की समीक्षा को पूरी तरह निरर्थक मानते है। उन्होने लिखा है कि वर्ग-भेद का विरोध और उसकी भर्त्सना एक प्रगतिशील प्रवृत्ति है, शासक वर्ग की जन विरोधी, आतकवादी नीतियो की भर्त्सना दूसरी प्रगतिशील प्रवृत्ति है, लेकिन वर्ग भेद का विरोध करते हुए मेहनत कशो के वर्ग संघर्ष का तिरस्कार एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति है। वर्गहीन सामजस्य और सामजस्य का सिद्धान्त भी अमूर्त्त, आदर्शवादी और आध्यात्मिक होने के कारण भ्रामक है। यह प्रकारातर से वर्तमान वर्ग-भेद और विषमता को शाश्वत सिद्ध करने का प्रयास है।

कामायनी मे व्यक्त सामाजिक यथार्थ, जीवन मूल्य और विश्व-दृष्टि की आलोचना मुक्तिबोध ने वर्ग विश्लेषण की दृष्टि से की है और उन्होने रचनाकार के वर्गीय आधार और सबध को भी स्पष्ट किया है। उन्होने जनता के मुक्ति-संघर्ष की चेतना को भ्रमित करने वाले जीवन मूल्यो की आलोचना करते हुए साहित्यिक आलोचना को विचारधारात्मक संघर्ष के साधन के रूप मे विकसित किया। मुक्तिबोध की यह आलोचना साहित्य के कलात्मक सौंदर्य की सूक्ष्मताओ का विश्लेषण कर अभिभूत करने वाली नही है, वह ऐसा आलोचनात्मक विवेक जगाती है जो साहित्य विवेक तक ही सीमित नही रहता। इस आलोचना के अत मे मुक्तिबोध ने वर्ग समाज में सास्कृतिक प्रभुत्व के बनने और टूटने की प्रक्रिया के बारे मे जो महत्त्वपूर्ण चिंतन किया है, वह अलग से विचारणीय है।

मुक्तिबोध ने कामायनी की इस आलोचना के प्रसग मे ही इस महत्त्वपूर्ण बात की ओर सकेत किया है कि अगर किसी कलाकृति का कलात्मक प्रभाव या कलात्मक सौंदर्य अभिभूत करने वाला हुआ तो एक खतरा यह भी होता है कि आलोचक और पाठक उसमे व्यक्त जीवन मूल्य और विचारधारा के असली रूप को आसानी से न पहचान सकें। मुक्तिबोध ने जिस खतरे की ओर सकेत किया है उसके शिकार हिंदी के अनेक मार्क्सवादी आलोचक सत भक्ति साहित्य और कामायनी की आलोचना के प्रसग मे हुए हैं। ऐसे आलोचक सत भक्ति साहित्य और कामायनी से दो चार उद्धरण छाटकर उनकी प्रगतिशीलता की दुहाई देते हैं, उनके कलात्मक सौंदर्य पर मुग्ध रहते हैं और उनमे व्यक्त जीवन मूल्य और विचारधारा का विश्लेषण करने की जरूरत ही नही समझते।

टुकड़ा फेंकता है तो दूसरी ओर उससे दस गुना हिस्सा छीन लेता है। (कामायनी एक अध्ययन पृ० 120) यही कामायनी मे प्रतिपादित श्रद्धावाद का वास्तविक अथ है और उसके समथकों की असली विचारधारात्मक स्थिति है। हम यह देख सकते हैं कि मुक्तिबोध न कामायनी म व्यक्त व्यक्तिवाद और श्रद्धावाद के निहित विचारधारात्मक प्रयोजनो की आलोचना करते हुए साहित्य की आलोचना को विचारधारात्मक सघष का साधन बनाया है।

मुक्तिबोध ने लिखा है कि प्रसादजी को वतमान पूजीवादी समाज व्यवस्था की विकृतियो और समस्याओ का गहरा और ठीक ज्ञान है, उन्होने इन सबका प्रभावशाली चित्रण भी किया है, लेकिन प्रसादजी ने जो समाधान प्रस्तुत किया है वह गलत है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "प्रासादजी की आत्मा ने भोगा तो वास्तविक जीवन खोज की वास्तविक जीवन की, चिंतन किया वास्तविक जीवन का। किन्तु निष्कप रूप म निदान और समाधान के रूप म पाया क्या ? आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक भाववादी रहस्यवाद। यह ऐतिहासिक सामाजिक समस्याओ का ऐतिहासिक सामाजिक हल नही हुआ" (पुर्विचार प० 164) प्रसादजी को आधुनिक भारतीय पूजीवादी समाज व्यवस्था की वास्तविकता का बोध था, उसकी विकृतिया और समस्याओ का ज्ञान था उनसे जुडे प्रश्नो की पहचान भी थी, लेकिन यह सब सहज भावना और विवेक के कारण सभव हुआ था, किसी वज्ञानिक विश्वदृष्टि के कारण नही इसलिए इनका समाधान नितान्त काल्पनिक, आध्यात्मिक और रहस्यवादी रूपम सामने आया तो कोई आश्चय की बात नही है। ययाथ बोध सच्चा, जीवन मूल्य भ्रामक और विश्वदृष्टि गलत, यही कामायनी की रचनादृष्टि की ट्रेजडी हैं। क्या टी० एस० इलियट की रचना 'वेस्टलैंड' लगभग एसी ही ट्रजडी का शिकार नही हुई है ? क्या इससे यह साबित नही होता कि आधुनिक युग म गलत विचारधारा का शिकार बडा स बडा रचनाकार भी केवल ययाथ बोध और रचना कौशल के आधार पर सामाजिक विकास और परिवतन की दिशा की अभिव्यक्ति करन वाली महत्वपूण कलाकृति का निर्माण नही कर सकता।

मुक्तिबोध कामायनी के अद्वतवाद, रहस्यवादी आनदवाद, आध्यात्मिकता आदि का खडन करते हैं और इन सबके समथक नद दुलारे वाजपेयी की सामती बुजुआ (रसवादी कलावादी) आलोचना दृष्टि का भी खडन करत है। क्या यह महज सयोग है कि कामायनी के रहस्यवाद श्रद्धावाद और आनदानुभूतिशील अद्वैतवाद का विरोध आचाय रामचन्द्र शुक्ल भी करते हैं और मुक्तिबोध भी ? मुक्तिबोध छायावाद और कामायनी के सदभ म नददुलारे वाजपेयी का विरोध करते हुए आचाय शुक्ल से काफी कुछ सहमत दिखाई देते हैं।

कुछ लोगो को कामायनी म 'द्वन्द्व' को देखते ही ऐतिहासिक भौतिकवाद

की याद आने लगती है और वग भेद, विपमता आदि की आलोचना मे समाजवाद की गूंज सुनायी पडने लगती है। सभवत ऐसे लोगो को ध्यान म रखकर ही मुक्तिबोध ने प्रसादजी की पूजीवादी सम्यता की समीक्षा की समीक्षा की। वे कहते हैं कि द्वन्द्व की इस शाश्वतता का ऐतिहासिक भौतिकवाद से कोई सबध नही है और पूजीवादी सम्यता की समीक्षा किसी उच्चतर, बेहतर समाज व्यवस्था समाजवादी समाज की दष्टि से नही की गई है। लेकिन इसका यह अथ नही है कि मुक्तिबोध प्रसादजी की पूजीवादी सम्यता की समीक्षा को पूरी तरह निरथक मानते है। उन्होने लिखा है कि वग भेद का विरोध और उसकी भत्सना एक प्रगतिशील प्रवृत्ति है, शासक वग की जन विरोधी, आतकवादी नीतियो की भत्सना दूसरी प्रगतिशील प्रवृत्ति है, लेकिन वग भेद का विरोध करते हुए मेहनत कशो के वग सघष का तिरस्कार एक प्रतिक्रियावादी प्रवृत्ति है। वगहीन सामजस्य और सामजस्य का सिद्धान्त भी अमूत्त, आदशवादी और आध्यात्मिक होने के कारण भ्रामक है। यह प्रकारातर से वतमान वग-भेद और विपमता को शाश्वत सिद्ध करने का प्रयास है।

कामायनी मे व्यक्त सामाजिक यथाथ, जीवन मूल्य और विश्व दृष्टि की आलोचना मुक्तिबोध न वग विश्लेपण की दष्टि से की है और उन्होन रचनाकार के वर्गीय आधार और सबध को भी स्पष्ट किया है। उन्होने जनता के मुक्ति-सघष की चेतना को भ्रमित करने वाले जीवन मूल्यो की आलोचना करते हुए साहित्यिक आलोचना को विचारधारात्मक सघष के साधन के रूप मे विकसित किया। मुक्तिबोध की यह आलोचना साहित्य के कलात्मक सौन्दय की सूक्ष्मताओ का विश्लेपण कर अभिभूत करने वाली नही है, वह ऐसा आलोचनात्मक विवेक जगाती है जो साहित्य विवेक तक ही सीमित नही रहता। इस आलोचना के अत मे मुक्तिबोध ने वग समाज मे सास्कृतिक प्रभुत्व के बनन और टूटने की प्रक्रिया के बारे म जो महत्त्वपूण चिंतन किया है, वह अलग से विचारणीय है।

मुक्तिबोध ने कामायनी की इस आलोचना के प्रसग मे ही इस महत्त्वपूण बात की ओर सकेत किया है कि अगर किसी कलाकृति का कलात्मक प्रभाव या कलात्मक सौन्दय अभिभूत करने वाला हुआ तो एक खतरा यह भी होता है कि आलोचक और पाठक उसमे व्यक्त जीवन मूल्य और विचारधारा के असली रूप को आसानी से न पहचान सकें। मुक्तिबोध ने जिस खतरे की ओर सकेत किया है उसके शिकार हिन्दी के अनेक मावसवादी आलोचक सत भक्ति साहित्य और कामायनी की आलोचना के प्रसग म हुए हैं। ऐसे आलोचक सत भक्ति साहित्य और कामायनी से दो चार उद्धरण छाटकर उनकी प्रगतिशीलता की दुहाई देते हैं, उनके कलात्मक सौन्दय पर मुग्ध रहते हैं और उनमे व्यक्त जीवन मूल्य और विचारधारा का विश्लेपण करने की जरूरत ही नही समझते।

मुक्तिबोध न कामायनी की आलोचना म परम्परा को अपन समय की आखो से देखा है अपन समय के साहित्य और समाज के विकास की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखकर उस पर पुनर्विचार किया है और अपन समय की प्रगतिशील साहित्यिक सास्कृतिक विचारधारा की दष्टि से परपरा का पुनर्मूल्याकन किया है। एक रचनाकार जब परपरा का पुनमूल्याकन करता है तो वह अतीत को केवल वतमान की आख से ही नही देखता है, वह परपरा के सदभ म आत्म विश्लेषण भी करता है, और तभी उसे अपने दायित्व का बोध भी होता है। परपरा रचनाकार के समक्ष एक चुनौती बनकर भी उपस्थित होती है वह रचनाकार को आत्मविश्लेषण के लिए भी प्रेरित करती है। मुक्तिबोध ने छायावाद क अलावा प्रेमचन्द पर भी विचार किया ह। वे प्रेमचन्द को 'उत्थान शील' भारतीय सामाजिक क्राति के प्रथम और अतिम महान् कलाकार मानत है और उनकी विशाल छाया म बैठकर आत्मविश्लेषण की प्रेरणा भी प्राप्त करत हैं। परपरा रचनाकार के सामने नयी रचनात्मक उपलब्धियो की समीक्षा की कसौटी बनकर भी उपस्थित होती है। प्रेमचन्द को परवर्ती रचनाशीलता की समीक्षा के मानदड क रूप मे स्वीकार करत हुए मुक्तिबोध कहते है कि 'प्रेमचन्द के बाद एक भी ऐसे चरित्र का चित्रण नहा हुआ है जिस हम भारतीय विवेक चेतना का प्रतीक कह सकत है।" जीवत परपरा का विवेकपूण पुनमूल्याकन नयी रचनाशीलता को गति और दिशा देता है, उसके विकास को कुठित नही करता है। यही परपरा का साथक बोध और उचित उपयोग है।

मुक्तिबोध ने छायावाद और कामायनी की जो आलोचना की है उसमे छायावाद और कामायनी की केवल निदा ही नही है, जसाकि कुछ लोग समझते हैं। मुक्तिबोध कामायनी को एक महत्त्वपूण रचना मानते थे अयथा वे लगभग 20-25 वर्षों तक कामायनी के अध्ययन और दो बार उसकी आलोचना लिखने का प्रयास क्यो करते ? मुक्तिबोध की यह आलोचना उस आलोचना से भिन है जो या तो प्रशसापरक होती है या निदापरक। कुछ आलोचक किसी रचना का विरोध करने के लिए कभी केवल रचनाकार की विचारधारा पर ध्यान देते है, रचना मे *व्यक्त यथाथबोध, जीवन मूल्य और कलात्मक सौदय* की उपेक्षा करत हैं और कभी अपने प्रिय रचनाकारा के यथाथबाध और कलात्मक सौदय को ही देखते है, उनकी विचारधारा की उपेक्षा कर देते हैं। ऐसे आलोचक रचनाओ और रचनाकारो के विरोध या समथन के लिए कभी सदमसहित और कभी सदमरहित कुछ उद्धरणो के आधार पर मूल्य निणय करते रहते हैं। ऐस निणयवादी आलोचक कभी वस्तु की आलोचना करत है ता कभी रूप की कभी विचारधारा की उपेक्षा करते है तो कभी विचारधारा के आधार पर ही रचना को खारिज कर देते है। मुक्तिबोध ने कामायनी की वस्तुवादी आलोचना

की है और उसके कलात्मक सौंदर्य की आलोचना का काम दूसरों के लिए छोड़ दिया। मुक्तिबोध ने कामायनी में व्यक्त रचनाकार के व्यक्तित्व, यथार्थबोध, जीवन मूल्य और विश्व दृष्टि की समीक्षा करते हुए उसके यथार्थबोध की प्रशंसा की है लेकिन जन विरोधी, प्रगति विरोधी और आध्यात्मिक जीवन मूल्य तथा विश्व दृष्टि की कड़ी आलोचना की है।

मुक्तिबोध ने कामायनी की समीक्षा करते हुए उसे पुराणपंथियों और प्रगतिविरोधियों के हाथ का हथियार होने से बचाया है और उसके मूल्यवान पक्षों का उचित मूल्यांकन किया है। परंपरा में सब कुछ सार्थक, उपयोगी और प्रगतिशील ही नहीं होता, उसमें बहुत कुछ निरर्थक, अनुपयोगी और प्रगति-विरोधी भी होता है। यह विवेक हमें परंपरा की उपेक्षा करने से नहीं, उसके साक्षात्कार से ही प्राप्त हो सकता है। मुक्तिबोध ने कामायनी के पुनर्मूल्यांकन का जो प्रयास किया है उससे यह सिद्ध होता है कि हमें परंपरा से टकराना चाहिए, उसकी चुनौती को स्वीकार करना चाहिए, तभी हम उसका विवेकपूर्ण मूल्यांकन करते हुए साहित्य और समाज के भावी विकास के लिए परंपरा के सार्थक तत्त्वों का उपयोग कर सकते हैं। मुक्तिबोध ने कामायनी की आलोचना जिन उद्देश्यों से की थी वे आज भी पूरे नहीं हुए हैं। 'कामायनी : एक पुनर्विचार' पर नये सिरे से विचार करने की प्रासंगिकता यही है कि उन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए निरंतर आलोचनात्मक संघर्ष का प्रयत्न किया जाय।

2

मुक्तिबोध के आलोचनात्मक संघर्ष के दूसरे मुख्य मोर्चे का संबंध स्वतंत्रता के बाद के काल विशेषतः नयी कविता के काल में प्रचलित और प्रचारित प्रगति-विरोधी कलादर्शन, जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि के विरुद्ध संघर्ष से है। स्वतंत्रता के बाद के भारतीय समाज के प्रारंभिक चार पांच वर्षों का काल तीव्र वर्ग संघर्ष का काल है। इसी बीच में जनता की मुक्ति की आकांक्षा और उसके लिए क्रांतिकारी संघर्ष की अभिव्यक्ति तेलंगाना के किसान संघर्ष में हुई। जनता के इस राजनीतिक क्रांतिकारी संघर्ष की सांस्कृतिक स्तर पर अभिव्यक्ति प्रगतिशील आंदोलन और उससे विकसित विभिन्न कला रूपों में हुई। आजादी के नाम पर सत्ता हस्तांतरण के बाद देश में सामंती-पूंजीवादी वर्गों के गठजोड़ के रूप में जो शासक-वर्ग सामने आया, उसका पहला खूंखार दमनकारी रूप तेलंगाना की किसान क्रांति और प्रगतिशील आंदोलन के क्रूर दमन में दिखाई पड़ा। तेलंगाना का क्रांतिकारी आंदोलन और जन संस्कृति के व्यापक उत्थान का प्रगतिशील आंदोलन, शासक वर्ग के कठोर दमन के साथ साथ अपनी आंतरिक असंगतियों और अंतर्विरोधों के कारण बिखराव के शिकार हुए। फलतः

राजनीति और साहित्य मे प्रगतिशील शक्तिया कमजोर हुईं और प्रगति विरोधी शक्तियो का प्रभुत्व बढा। इसी समय हिन्दी साहित्य मे प्रयोगवाद, नयी कविता और नयी कहानी की व्यक्तिवादी कलावादी प्रवत्तियो का उदय हुआ।

मुक्तिबोध ने नयी कविता के काल की व्यक्तिवादी कलावादी प्रवतियो के प्रसार और प्रभाव के कारणो की खोज करते हुए उन ऐतिहासिक सामाजिक शक्तियो और विचारात्मक स्रोतो की ओर सकेत किया है जिनसे प्रगति विरोधी प्रवतियो को प्रोत्साहन मिल रहा था। ये शक्तिया और ये स्रोत देशी ही नही, विदशी भी थे। नयी कविता के काल मे प्रचलित और प्रचारित प्रगति विरोधी कलावादी प्रवत्तियो के सामाजिक, राजनीतिक सदभ और वर्गीय आधार का विश्लेषण करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है कि नयी कविता मे दो वग हैं, उच्चमध्यवग और निम्न मध्यवग। यह उच्च मध्यवग स्वाधीनता के बाद अवसरवाद का खूब शिकार हुआ है, उसका एक ओर देशी शोषक-शासक वग से गहरा रिश्ता है तो दूसरी ओर उसने पश्चिमी साम्राज्यवाद की शीतयुद्ध कालीन विचारधारा को भी अपनाया है। इस उच्च मध्यवग का उद्देश्य प्रगतिवादी साहित्य, सस्कृति और विचारधारा पर आक्रमण करना और प्रगति विरोधी कला दशन, जीवन दष्टि और राजनीतिक दष्टि का प्रचार प्रसार करना है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त भारत मे एक और अवसरवाद की बाढ आयी। शिक्षित मध्यवग मे भी उसकी जोरदार लहरें पैदा हुइ। साहित्यिक लोग भी उसके प्रवाह मे बहे और खूब बहे। इस भ्रष्टाचार, अवसरवाद और स्वाथपरता की पाश्वभूमि म नयी कविता के क्षेत्र मे पुराने प्रगतिवाद पर जोरदार हमले किये गये और कुछ सिद्धातो की एक रुपरेखा प्रस्तुत की गई। ये सिद्धान्त और उनके हमले वस्तुत उस शीतयुद्ध के अग थे जिसकी प्रेरणा लन्दन और वाशिगटन से ली गई थी। नयी कविता के आसपास लिपटे हुए बहुत से साहित्यिक सिद्धान्तो मे शीतयुद्ध की छाप है।" ('नयी कविता का आत्मसघष तथा अन्य निबध' पृ० 37)

मुक्तिबोध ने अपने अनेक निबधो और डायरी म नयी कविता की व्यक्तिवादी, कलावादी धारा के कवियो और लेखको के वास्तविक वर्गीय चरित्र का विश्लेषण किया है। नयी कविता की इस धारा के सिद्धान्तकारो ने प्रगतिवाद पर जो हमले किए, उनकी ओर भी मुक्तिबोध ने जगह जगह सकेत किया है। हिन्दी के माक्सवादी आलोचको मे मुक्तिबोध न सभवत सबसे पहले सवाधिक जोरदार ढग से नयी कविता के प्रतिक्रियावादी साहित्यिक दृष्टिकोण के पीछे सक्रिय शीतयुद्धकालीन सम्राज्यवादी विचारधारा के वास्तविक रूप का उदघाटन किया।

मुक्तिबोध ने एक निबध मे लिखा है कि "एक कलासिद्धान्त के पीछे एक विशेष जीवन दृष्टि हुआ करती है, उस जीवन दृष्टि के पीछे एक जीवन दशन होता है, और उस जीवन दशन के पीछे आज के जमाने मे एक राजनीतिक दृष्टि भी लगी रहती है।" मुक्तिबोध ने नयी कविता की व्यक्तिवादी कलावादी धारा के साहित्य सिद्धान्तो पर विचार करते हुए ही यह बात लिखी है। इससे स्पष्ट है कि मुक्तिबोध के अनुसार नयी कविता की इस धारा ने प्रगतिशील साहित्य और विचारधारा के खिलाफ एक प्रगतिविरोधी कला-दशन गढने का प्रयास किया था जिसका एक निश्चित प्रगतिविरोधी राजनीतिक अभिप्राय भी था। इस प्रगतिविरोधी कलादशन जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टिकोण के विरुद्ध सघष करना नयी कविता के काल की मार्क्सवादी आलोचना का मुख्य दायित्व था। इस दायित्व को मुक्तिबोध ने पूरा किया। उनका यह आलोचनात्मक सघष केवल साहित्य की दुनिया तक ही सीमित न था, उसके व्यापक राजनीतिक, सास्कृतिक और विचारधारात्मक सन्दर्भ तथा प्रयोजन भी थे।

अब हमे यह देखना है कि नयी कविता की प्रगति विरोधी विचारधारा (कला दशन, जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि) का वास्तविक स्वरूप क्या था? क्यो न हम इस विचारधारा के स्वरूप को इसके एक कवि और आचाय की आत्मस्वीकृति से ही जानें? लक्ष्मीकान्त वर्मा उस गिरोह के प्रमुख प्रवक्ता रहे हैं जिसमे विजय देवनारायण साही, धमवीर भारती और जगदीश गुप्त आदि शामिल थे और जो परिमल के मच से लगातार कला और सौन्दय के नाम पर प्रगतिवाद विरोधी साहित्य सिद्धान्त के निमाण और प्रचार का काम कर रहा था। अज्ञेय इस गिरोह के आध्यात्मिक गुरु थे, जो कभी कभी सूत्र और मत्र दिया करते थे। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'कल्पना' के चार अको मे हिन्दी साहित्य के पिछले बीस वष शीषक लेखमाला म 1947 से 67 तक के हिन्दी साहित्य पर विचार किया है। इस लेख का एकमात्र उद्देश्य प्रगतिशील आदोलन के विरुद्ध विषवमन करना और प्रगतिशील रचनाकारो को पानी पी पी कर गाली देना है। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने इस लेखमाला की पहली किश्त मे ही अपने गिरोह की जिन पाँच स्थायी माँगो का उल्लेख किया है, उनसे नयी कविता की इस प्रगतिविरोधी धारा का असली रूप सामने आ जाता है। लक्ष्मीकान्त वमा के अनुसार ये पाच माँगें हैं—
1 "वैयक्तिक स्वातन्त्र्य और कलात्मक सृजनशीलता के साथ मानव मूल्यो की प्रतिष्ठा, 2 राजाश्रय से मुक्त लेखक का व्यक्तित्व, 3 महामानवो की खोखली और बिकाऊ प्रवृत्ति के विरुद्ध लघु मानव की विवेकपूण दृढता, 4 कम्युनिस्ट विचारधारा से प्रभावित कृत्रिम साहित्य सृजनशीलता के विरुद्ध सौन्दयपरक (एस्थेटिक) कला सृजन की साथकता, 5 इतिहास के दुराग्रह और परपरा की

रूढ़िया से मुक्त आधुनिकता की माग, जिसमे अद्वितीय क्षणो की अनुभूति और विवेक का समर्थन, कोरी भावुकता और इलहामी नपुसकता की निंदा।'

कोई भी देख सकता है कि इन पाच मागो मे व्यक्ति स्वातत्र्य, मुक्त व्यक्तित्व मानवमूल्य, इतिहास का दुराग्रह आदि "शीत युद्ध के मत्रपूत शब्दो' की भरमार है। इन पाच मागो मे से अगर शीतयुद्धकालीन सिद्ध शब्दो को निकाल दे तो ये पाच मागें इस रूप मे हमारे सामने आयेंगी—व्यक्ति स्वतत्र्य, लघुमानव का सिद्धात, कम्युनिस्ट विचारधारा का विरोध सौदयवादी कलादृष्टि का आग्रह और इतिहास तथा परपरा से मुक्ति और अद्वितीय क्षणो की अनुभूति से युक्त आधुनिकता। लक्ष्मीकात वर्मा की इन पाच मागो का मुख्य उद्देश्य एक ओर मार्क्सवादी विचारधारा और उससे प्रभावित साहित्य का विरोध करना था और दूसरी ओर प्रगतिविरोधी सामाजिक राजनीतिक जीवन मूल्यो तथा विचारधारा का समर्थन करते हुए समाज निरपेक्ष सौदयवादी कलादर्शन की प्रतिष्ठा करना था। मुक्तिबोध ने नयी कविता की इस प्रगतिविरोधी कलावादी धारा के चिंतन मे छिपी राजनीतिक दृष्टि के विरुद्ध सघर्ष मे साहित्य की आलोचना को 'आलोचना के हथियार' की तरह इस्तेमाल किया।

अब हमे यह देखना है कि नयी कविता की प्रगति विरोधी, व्यक्तिवादी, कलावादी धारा के कलादर्शन, जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टिकोण के वास्तविक रूप को सामने लाने और उनके खिलाफ आलोचनात्मक सघर्ष चलाने का काम मुक्तिबोध ने किस रूप मे किया।

नयी कविता की प्रगतिवाद विरोधी धारा ने अपनी व्यक्तिवादी रचना दृष्टि को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने के लिए कलादर्शन खडा करने की कोशिश की। इस कलादर्शन के मूल सूत्र और मत्र पश्चिम के आधुनिकतावादी और रूपवादी विचारधारात्मक अभियान की उपज थे। पहले प्रकार के सूत्रो और मत्रो के सहारे पश्चिम के आधुनिक बुर्जुआ कला चिंतन को हिंदी मे स्थापित करने की कोशिश हो रही थी और दूसरे प्रकार के सूत्रो तथा मत्रो के सहारे भारतीय साहित्य मे साम्राज्यवाद की शीतयुद्धकालीन विचारधारा को सुनियोजित ढग से प्रचारित करने का प्रयास हो रहा था। मुक्तिबोध ने नयी कविता के इस तथाकथित कलादर्शन के प्रेरक स्रोतो और प्रयोजनो पर विस्तार से विचार किया। प्रयोगवाद नयी कविता की इस धारा के नेता अज्ञेय ने समाज निरपेक्ष सौदयवादी कलादर्शन के निर्माण का प्रयत्न किया। इस कलादर्शन की एक मान्यता यह थी कि कला का अपना पूर्ण स्वायत्त ससार होता है और रचना या आलोचना के प्रसग मे कला के ससार का समाज के वास्तविक जीवन से कोई सबध नही होता। इस मान्यता से जुडी हुई उनकी एक दूसरी धारणा यह थी कि रचनाकार के भोक्ता मन और सर्जक मन के बीच पूर्ण पार्थक्य होता

है। यह दूसरी धारणा मूलत टी० एस० इलियट की है जिसका अज्ञेय ने हिन्दी म खूब प्रचार किया था। इस कलादर्शन की तीसरी मा यता यह थी कि चूंकि भोक्ता मनुष्य और सजक मन म पूण पाथक्य होता है इसलिए वास्तविक जीवन की अनुभूति और सौ दर्यानुभूति मे भी पाथ क्य होता है। इस मा यता के अनुसार रचनाकारो को अपनी रचनाओ मे के ल एस्थेटिक इमाश स की ही अभिव्यक्ति करनी चाहिए। रचनाकार को तथाकथित सौ दयपरक भावा की अभिव्यक्ति तक सीमित रखने की धारणा दुनिया भर के कलावाद की बुनियादी धारणा है। मुक्तिबोध ने नई कविता की व्यक्तिवादी धारा के कलावाद पर चोट करते हुए लिखा कि जीवनानुभूति और काव्यानुभूति के बीच पूण पाथक्य स्थापित करने वाली धारणा गलत है। मुक्तिबोध के अनुसार यह एक ऐसा सिद्धा त है जिसके पीछे न केवल विशेष सौ दर्याभिरुचि है, वरन् विशेष प्रकार के विषय सकलन का आग्रह भी है, कितु इस सिद्धात का मुख्य हेतु यह है कि व्यक्ति को व्यक्तिबद्ध बनाया जाय। ('नयी कविता का आत्म सघष, पृ० 17) मुक्तिबोध ने जीवानुभूति और काव्यानुभूति मे पाथक्य स्थापित करने वाले सिद्धात को व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिक्रियावादी कहा है।

नयी कविता की व्यक्तिवादी कलावादी धारा की चौथी मा यता यह थी कि जीवनानुभूति और सौ दर्यानुभूति मे समाना तरता होती है एकता नही। इस मा यता के अनुसार सौ दर्यानुभूति जीवन के एक निगूढ क्षण मे कल्पोदभास या पूण मानसिक द्रवण है। जीवनानुभूति सौ दर्यानुभूति से पृथक तो है ही, वह समाना तर भी है। जीवनानुभूति और सौ दर्यानुभूति के अलगाव की इस धारणा के अनुसार सौ दय प्रतीति का सामाजिक दृष्टि स भी कोई सबध नही है, बल्कि सामाजिक दृष्टि सौ दय प्रतीति म बाधक ही है। मुक्तिबोध ने जीवनानुभूति और समाना तरता की धारणा का खण्डन किया है और दोना की एकता पर बल दिया है। उ होने सौ दर्यानुभूति की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सौ दर्यानुभव जीवन के सार रूप का प्रगाढ मार्मिक अनुभव है। कि तु यह तभी प्राप्त होता है जब मनुष्य अपन परे जान, अपन से ऊपर उठने, तटस्थ होने, निजबद्धता से मुक्त होने के साथ साथ (और एक साथ) त मय होने का विलीन हो जान का, मानवीय गुण और उस गुण का साम्यथ प्राप्त हो, तभी वह विशिष्ट की सामा य म परिणति की मुक्त आत्मीयता का आनद ले सकेगा'। ('नयी कविता आत्म सघष, पृ० 39 40) मुक्तिबोध ने सौ दर्यानुभूति को केवल कलाकार की ही विशिष्टता न मानकर उसे मनुष्यत्व का लक्षण कहा है। कलाकार को सौ दर्यानुभूति की क्षमता उसकी मनुष्यता की क्षमता पर उसके व्यापक जीवन विवेक पर निभर है, क्योकि 'सौ दर्यानुभूति वास्तविक जीवन की मनुष्यता है।" आचाय रामचद्र शुक्ल ने जीवनानुभूति और काव्यानुभूति की एकता को स्वीकार करते

हुए रचनाकारो के लिये आत्मबोध के साथ साथ जगत बोध अर्जित करने पर बल दिया था। मुक्तिबोध भी जीवनानुभूति और सौन्दर्यानुभूति की एकता स्वीकार करते हैं और रचनाकार को आत्मचेतस् होने के साथ साथ विश्व चेतस होने की सलाह देते हैं।

नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा की सौन्दयवादी दृष्टि अनुभूति के क्षण को महत्त्व देती थी। इस दृष्टि के अनुसार रचना का सबध सौन्दर्यानुभूति से होता है और सौन्दर्यानुभूति का केवल क्षण ही हो सकता है इसलिए अनुभूति के क्षण को ही रचना मे महत्त्व मिलना चाहिए। कलाकार और कला को वास्तविक जीवन प्रसगो से काटकर क्षण की अनुभूति या अनुभूत क्षण तक सीमित रखने वाली यह मान्यता विशुद्ध कलाकार और विशुद्ध कला की वकालत करती है। मुक्तिबोध ने इन कलावादियो के सौन्दयवाद के अतरग सखा क्षणवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि "यह सौन्दयवाद कलाकार को क्षणजीवी सौन्दर्यानुभूति के छोटे से मानसिक बिन्दुओ मे ही उसे समेटकर, बाधकर रखना चाहता है ताकि वह अपने समस्त व्यक्तित्व और समस्त अतर्जीवन की प्राण धाराओ को भूमिगत करके, केवल ऊपरी सतह पर उछाले गये बिन्दुओ मे अपने आपको तृप्त मान ले और शेष को भूल जाये" ('नयी कविता का आत्म सघष' पृ० 169) नयी कविता के व्यक्तिवादी कलावादियो के बारे मे मुक्तिबोध ने लिखा है कि समग्र मानव सत्ता के प्रति उनके मन म कोई अनुराग नही है। इन कलावादियो के क्षणवाद का कला सजन के सदभ मे सामाजिक राजनीतिक और नैतिक दायित्वो से घोर विरोध हैं।

प्रश्न यह है कि क्या इस क्षणवाद का कोई राजनीतिक और विचार धारात्मक प्रयोजन भी है ? नयी कविता के कलावादियो के सौन्दयवाद और क्षणवाद का सबध केवल कला की दुनिया से ही नही है। मुक्तिबोध ने इस क्षणवाद के राजनीतिक और विचारधारात्मक प्रयोजन को स्पष्ट करते हुए लिखा है, "इनकी बडी चिन्ता यह थी कि समाज मे प्रचलित समाजवादी भावो और प्रगतिशील झुकावो को लेखक कही मलवद्ध रूप से स्वीकार न करे ले। अतएव उनका प्रधान आग्रह यह था कि लेखक सौन्दर्यानुभूति का जो विशेष क्षण होता है उस क्षण की सत्ता की परिधि के बाहर न जावे'। (नयी कविता का आत्म सघष' पृ० 171) मुक्तिबोध ने ठीक ही लिखा है कि इस सौन्दयवाद और क्षणवाद का मुख्य प्रयोजन साम्यवाद और प्रगतिवाद का विरोध करना था।

अनुभूति के क्षण के बारे का गहरा सम्बन्ध अनुभूति की ईमानदारी और अनुभूति की प्रामाणिकता के बारे से था। इन कलावादियो का तक था कि रचनाकार के पास अनुभूति के केवल क्षण होते हैं इसलिए सहज, क्षणिक अनुभूति ही प्रामाणिक हो सकती है और उसकी अभिव्यक्ति मे ही रचनाकार की ईमान

दारी प्रगट होती है। इनकी इस मान्यता के अनुसार सौन्दर्यानुभूति की क्षण-सत्ता की परिधि के बाहर के जीवनानुभवों, व्यापक सामाजिक जीवन के अनुभवों की अभिव्यक्ति करने वाली रचना में न तो अनुभूति की ईमानदारी होगी और न प्रामाणिकता। अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता का नारा साहित्यकार और साहित्य को समाज से, जनता से, जनता की समस्याओं से, सामाजिक राजनीतिक जीवन के गतिशील यथार्थ से दूर हटाने के इरादे से उछाला गया था। स्पष्ट है यह नारा यथार्थवादी साहित्य का विरोध करने के लिए गढ़ा गया था। कुछ लोगों ने अनुभूति की ईमानदारी और प्रामाणिकता को अपर्याप्त समझ कर अनुभूति की समझदारी की बात की, लेकिन यह समझदारी भी प्रगतिवाद के विरोध में ही काम आयी। मुक्तिबोध ने अनुभूति की ईमानदारी के नारे का खण्डन करते हुए कहा कि "अनुभूति की ईमानदारी का नारा देने वाले लोग, असल में, भाव या विचार के सिर्फ सब्जेक्टिव पहलू, केवल आत्मगत पक्ष के चित्रण को ही महत्त्व देकर उसे भाव सत्य या आत्म सत्य की उपाधि देते हैं। किन्तु भाव या विचार का एक ऑब्जेक्टिव पहलू अर्थात वस्तुपरक पक्ष भी होता है।" ('एक साहित्यिक की डायरी' पृ० 133) मुक्तिबोध ने अपने द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दृष्टिकोण के कारण ही 'अनुभूति की ईमानदारी' में निहित भाववाद को पहचाना और भाव या विचार के आत्मगत पक्ष और वस्तुगत पक्ष के समान महत्त्व पर बल दिया। इससे भी एक कदम आगे बढ़कर उन्होंने यह भी बताया कि रचना के संदर्भ में आत्मगत पक्ष को सब कुछ मान लेने के कारण रचना में एक खास किस्म का शिल्प निर्मित होता है और आलोचना में केवल आत्मपरक कविताओं को महत्त्व दिया जाता है। उन्होंने यह भी लिखा है कि अनुभूति की ईमानदारी के नाम पर अनुभूति का फ्रॉड भी हो सकता है और यह नई कविता में बहुत है। इस संदर्भ में ध्यान देने लायक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रचना में ईमानदारी के बावजूद वहां फ्रॉड पैदा हो सकता है जहां 'लेखक ईमानदारी से भ्रम होता है'। इस फ्रॉड से बचने का तरीका यह है कि लेखक 'वस्तु जगत के ज्ञान को अधिकाधिक मार्मिक यथार्थमूलक बनाये और विकसित करे', क्योंकि 'ज्ञान के क्षेत्र में ही भावना विचरण करती है और भावना का ज्ञानात्मक आधार जब तक वस्तुतः शुद्ध है तभी तक यह भावना फ्रॉड नहीं है'। ('एक साहित्यिक की डायरी पृ० 142) मुक्तिबोध के लिये 'ज्ञान का अर्थ केवल वैज्ञानिक उपलब्धियों का बोध नहीं है, वरन् समाज की उत्थानशील और ह्रासशील शक्तियों का बोध भी है'। समाज की ह्रासशील और उत्थानशील शक्तियों के बोध के लिये एक वैज्ञानिक विचारधारा की जरूरत होती है। इस तरह मुक्तिबोध प्रकारान्तर से रचनाकारों के लिए एक वैज्ञानिक विचारधारा अर्जित करने की अनिवार्यता पर बल देते हैं। मुक्तिबोध अनुभूति की ईमानदारी को

निजतजस्त्र आलोक बनकर सामने आती है। हम जिस समाज, संस्कृति, परम्परा, युग और ऐतिहासिक आवर्त में रह रह है, उन सबका प्रभाव हमारे हृदय का संस्कार करता है।" (नयी कविता का आत्मसंघर्ष पृ० 57) वास्तव मे कविता को केवल आत्माभिव्यक्ति मानने और सामाजिक दृष्टि को सौन्दय प्रतीति का विरोधी समझने की धारणा व्यक्तिवादी सोच की उपज है। इस धारणा के मूल मे व्यक्ति और समाज के आपसी विरोध को शाश्वत मानने वाली धारणा छिपी हुई है। मुक्तिबोध ने 'व्यक्ति के विरुद्ध समाज' की धारणा का खण्डन करते हुए लिखा है कि "हमारा सामाजिक व्यक्तित्व ही हमारी आत्मा है। व्यक्ति और समाज का विरोध बौद्धिक विक्षेप है, इस विरोध का कोई अस्तित्व नही। जहा व्यक्ति समाज का विरोध करता दिखाई देता है वहा, वस्तुत समाज के भीतर की ही एक सामाजिक प्रवृत्ति दूसरी सामाजिक प्रवत्ति से टकराती है। वह समाज का अन्तर्विरोध है न कि व्यक्ति के विरुद्ध समाज का, या समाज के विरुद्ध व्यक्ति का। 'व्यक्ति विरुद्ध समाज' की इस विचार शैली ने ही हमारे सामने कृत्रिम प्रश्न खडे किये हैं—जिनमे से एक है सौन्दय प्रतीति के विरुद्ध सामाजिक दृष्टि।" ('नई कविता का आत्मसंघर्ष' पृ० 58) इस प्रकार हम देखते हैं कि नई कविता के कलावादी व्यक्तिवादी विचारको द्वारा गढे गये कला और साहित्य संबधी सभी प्रश्न कृत्रिम और उत्तर झूठे है। मुक्तिबोध ने इन प्रश्नो और उत्तरो के भीतर छिपे सामाजिक इरादो, राजनीतिक अभिप्रायो और विचारा धारात्मक प्रयोजनो की असलियत को सामने लाकर अपने समय के विचार-धारात्मक संघर्ष म महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

नयी कविता के कलावादी व्यक्तिवादी लेखको ने एक कला दशन खडा करने के साथ साथ साहित्य और समाज के संबध को निर्धारित और प्रभावित करने वाली कुछ ऐसी धारणाओ का भी प्रचार प्रसार किया जिनमे उनकी जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि की स्पष्ट रूप स अभिव्यक्ति हो रही थी। इन धारणाओ म से एक धारणा व्यक्ति स्वातन्त्र्य की थी। यह व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त शीतयुद्ध के काल म मार्क्सवादी दर्शन, समाजवादी समाज व्यवस्था और साम्यवादी आदर्श और इन सबसे सम्बद्ध कला और साहित्य के विरुद्ध संघर्ष के लिए साम्राज्यवादियो का सर्वाधिक सिद्ध सिद्धान्त था। हिन्दी म नयी कविता के कलावादी व्यक्तिवादी शीतयुद्ध के इस सिद्धान्त का सहारा लेकर प्रगति विरोधी अभियान चला रहे थे। मुक्तिबोध ने नई कविता के व्यक्तिवादियो के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त मे मूल निहित शीतयुद्धकालीन प्रभाव को लक्षित करते हुए लिखा है कि "शीतयुद्ध के दौरान इस नीवा भावधारा ने विगत जन तन्त्रवादी विचारधारा से भी युद्ध किया और प्रगतिवादी विचारधारा से भी।" नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा ने एक ओर छायावाद की जनतन्त्रवादी

विचारधारा से युद्ध किया और दूसरी ओर प्रगतिवादी से। छायावाद में व्यक्ति का ध्या सक्रिय उसकी सामाजिक रूढ़ियों से मुक्ति, रीतिवादी रूढ़ियों के विरुद्ध संघर्ष और राजनीतिक गुलामी के विरुद्ध विद्रोह का भाव था। छायावाद में सामाजिक परिवर्तन के तत्त्व और आग्रह थे इसलिए उसका व्यक्तिवाद नई कविता के व्यक्तिवाद की तरह प्रगति विरोधी और समाज विरोधी नहीं था। छायावाद की मूल चेतना सामंतवाद विरोधी और जनतंत्र समर्थक थी। नई कविता के व्यक्तिवादियों ने छायावाद के विरुद्ध संघर्ष का जो अभियान चलाया था, उसका मुक्तिबोध ने खण्डन किया।

नई कविता के व्यक्तिवादी लेखक अपने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति और समाज के बीच शाश्वत और सार्वभौम विरोध देखते थे। उनका कहना था कि औद्योगिक सभ्यता व्यक्तित्व का नाश करती है और व्यक्ति का व्यक्तित्व विखण्डित हो जाता है। वे यह भी कहते थे कि पूँजीवाद और समाजवाद दोनों औद्योगिक सभ्यतायें हैं, लेकिन पूँजीवादी देशों में, तथाकथित स्वतन्त्र दुनिया में, व्यक्तित्व विभाजन और व्यक्तित्व विनाश के बावजूद व्यक्ति अपने निर्णय के लिए स्वतन्त्र है इसलिए पूँजीवाद समाजवाद से बेहतर व्यवस्था है। कहने की जरूरत नहीं है कि इस तर्क पद्धति और दृष्टिकोण का उद्देश्य समाजवाद का विरोध और पूँजीवाद तथा साम्राज्यवाद का समर्थन था।

इन कलावादियों का व्यक्तिवादी दृष्टिकोण सामान्य जनता के प्रति उनके दृष्टकोण में भी प्रकट होता है। इन व्यक्तिवादियों का कहना था कि जनता भीड़ है मूर्ख है वह विवेक विहीन है, और जब तक व्यक्ति इस भीड़ का अंग है तब तक वह किसी भी तरह के आत्मनिर्णय के लिए स्वतन्त्र नहीं है। इन व्यक्तिवादियों का नारा था कि कलाकारों को, आत्मा का अन्वेषण करने वालों को जनता से दूर रहना चाहिए। मुक्तिबोध ने इस प्रकार के सोच को नितान्त प्रतिक्रियावादी कहा है।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य का सिद्धान्त पूँजीवादी व्यवस्था और विचारधारा के समाज विरोधी रूप की चरम परिणति हैं। इसे एक पुनीत सिद्धान्त के रूप में नई कविता के व्यक्तिवादियों ने प्रचारित प्रसारित किया था। पूँजीवादी समाज में व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के असली रूप को मुक्तिबोध ने इन शब्दों में स्पष्ट किया है —"जिस समाज में हर चीज खरीदी और बेची जाती है जहाँ बुद्धि बिकती है, और बुद्धिजीवी वर्ग बुद्धि बेचता है, अपने शारीरिक अस्तित्व के लिए, जहाँ उदारवादी की जगह उदरवादी हुआ जाता है, जहाँ स्त्री बिकती है, श्रम बिकता है वहाँ अन्तरात्मा भी बिकती है। यहाँ सच्चा व्यक्ति-स्वातन्त्र्य अगर किसी को है तो धनिक वर्ग को है, क्योंकि वह दूसरों की स्वतन्त्रता खरीदकर अपनी

स्वतन्त्रता बढ़ाता है, और अर्थव्यवस्था, राजनैतिक व्यवस्था—सम्पूर्ण समाज व्यवस्था का पदाधीश बन कर, प्रत्यक्षत और अप्रत्यक्षत स्वय या विक्रीता आत्माओ द्वारा अपन प्रभाव और जीवन को स्थायी बनाता है" ('नई कविता का आत्मसंघर्ष' पृ० 179) यही है पूंजीवादी समाज व्यवस्था मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का वास्तविक रूप। इस वास्तविकता को तर्क की चादर से ढकने के लिए ही नई कविता के व्यक्तिवादियो ने व्यक्ति स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त की जोर शोर से वकालत की थी।

मुक्तिबोध हर तरह से व्यक्ति स्वातन्त्र्य के विरोधी नही थे। वे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के नाम पर प्रचलित समाज विरोधी और मानव विरोधी व्यक्तिवाद के विरोधी थे। वे जनता की स्वतन्त्रता के समर्थक थे, इसलिए व्यक्ति-स्वातन्त्र्य को जनता की मुक्ति की आकाक्षा से जोड कर देखते थे। मुक्तिबोध ने लिखा है कि 'साधारण जन मन मे व्यक्ति स्वातन्त्र्य का प्रश्न सबके लिए मानवोचित जीवन रचना और समाज रचना के प्रश्नो से जुडा है।" पूंजीवादी व्यवस्था के पोषक और साम्राज्यवाद के सेवको के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लक्ष्य से जनता के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य का लक्ष्य भिन्न है। मुक्तिबोध ने इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'मुनाफाखोरो और उत्पीडको के व्यक्ति स्वातन्त्र्य का लक्ष्य, और जनता के व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के लक्ष्य म अन्तर है—जी नही, केवल अन्तर ही नही, विरोध भाव है। केवल विरोध भाव ही नही, विपरीत दिशायें हैं।" ('नई कविता का आत्मसंघर्ष पृ० 181) निश्चय ही मुक्तिबोध उत्पीडको, मुनाफाखोरो और उनके प्रतिनिधि साहित्यकारो के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लक्ष्य के विरुद्ध हैं और जनता के व्यक्ति स्वातन्त्र्य के लक्ष्य के समर्थक। उन्होने इस बात को कविता मे भी कहा है—"कविता मे कहने की आदत नही, पर कह दू। वर्तमान समाज चल नही सकता/पूंजी से जुडा हृदय बदल नही सकता/स्वातन्त्र्य व्यक्ति का वादी/छल नही सकता, मुक्ति के मन को/जन को।"

नई कविता के व्यक्तिवादियो की जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि को उजागर करने वाला दूसरा सिद्धान्त 'लघु मानव' का है। इसके मुख्य प्रवक्ता है लक्ष्मीकान्त वर्मा। लक्ष्मीकान्त वर्मा ने 'नई कविता के प्रतिमान' म इस लघु मानव के सिद्धान्त को प्रतिपादित करन का प्रयास किया था और 1967 की कल्पना की लेखमाला म भी इसे दोहराया था। लक्ष्मीकान्त वर्मा नई कविता के प्रतिमान के निर्माता ही नही हैं, वे नई कविता की यथार्थवाद विरोधी और प्रगतिवाद विरोधी धारा के एक कवि भी रह है। उन्होने जब नई कविता की परिभाषा गढने की कोशिश की थी तो निश्चय ही अपनी कविता को ध्यान मे रखा होगा। उन्होंने लिखा है कि नई कविता लघु मानव के लघु परिवेश की अभिव्यक्ति है। नई कविता की इस धारा मे लघु मानव के सिद्धान्त का कितना अधिक महत्त्व था,

यह बात लक्ष्मीकान्त वर्मा की नई कविता की परिभाषा से स्पष्ट हो जाती है। वैसे तो लक्ष्मीकांत वर्मा अपने को व्यापक मानवता के प्रति आस्थावान कहते हैं लेकिन मानवता के प्रति इस आस्था का हाल यह है कि वह 'समूह मानव और समूह चेतना' अर्थात समाज और सामाजिक चेतना से पूरी तरह आतंकित है। उनका लघु मानव व्यक्ति मानव है। वे यह भी मानते हैं कि व्यक्ति और समाज परस्पर विरोधी हैं। नई कविता की इस धारा के लक्ष्मीकान्त वर्मा और विजय देवनारायण साही जैसे चिन्तक बार बार जिस मानववाद की चर्चा करते हैं वह 'लघु मानव' के सिद्धान्त पर टिका हुआ है।

मुक्तिबोध लघु मानव के इस सिद्धांत को भी शीतयुद्ध की साम्राज्य वादी विचारधारा की उपज मानते हैं। उनका कहना है कि यह लघु मानव व्यक्तिवाद का सगा भाई है क्योंकि यह समाज और सामाजिक चेतना से आतंकित है और व्यक्ति सत्ता में ही अपनी अद्वितीयता खोजता और पाता है। दुःख की स्थिति को प्राकृतिक देन की तरह स्थायी मान लेने के बाद उसको दूर करने के सभी प्रयत्न निरर्थक ही लगेंगे। लघु मानव के सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक परिवर्तन के सारे प्रयत्न और मानव मुक्ति के सारे लक्ष्य निरर्थक है। इस सिद्धान्त का स्वीकार करने का अर्थ है पूंजीवादी समाज व्यवस्था को मनुष्य की नियति मान लेना और पूंजीवादी समाज व्यवस्था को समाप्त कर एक शोषण मुक्त समाज व्यवस्था के निर्माण की आकांक्षा और कोशिश से मुंह मोड़ लेना। क्या यह अलग से कहने की जरूरत है कि लघु मानव का सिद्धान्त पूंजीवादी समाज व्यवस्था के वर्तमान को मानव समाज का शाश्वत वर्तमान मानता है? मुक्तिबोध ने ठीक ही लिखा है कि 'यह मुख्यतः मानव मुक्तिवादी विचार धाराओं के विरुद्ध है, इसकी तीखी नोक खास कर साम्यवादी धारणाओं के विरुद्ध है, क्योंकि साम्यवादी धारणाओं में यह बताया गया है कि मनुष्य चाहे तो अपना भाग्य परिवर्तन कर सकता है।" (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र पृ० 26) मुक्तिबोध के अनुसार "दुख के स्थायित्व, लघुत्व की मूल स्थिति तथा उच्चतर गुणों के माया स्वप्नत्व का पाठ पढ़ाकर मनुष्य को मानव सत्ता के उच्चतर रूपान्तर के कार्यों और कार्यक्रमों से अलग करना" ही इस लघु मानव के सिद्धान्त का मुख्य उद्देश्य है। यही कारण है कि वे लघु मानव के सिद्धान्त को नकारवादी निराशावादी और प्रतिक्रियावादी कहते हैं।

नयी कविता की कलावादी व्यक्तिवादी धारा की कला दृष्टि जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि को प्रकट करने वाला तीसरा सिद्धान्त आधुनिकता वाद का है। अपने अनेक दूसरे सिद्धान्तों की तरह इस आधुनिकतावाद को भी नयी कविता वालों ने पश्चिम के आधुनिक बुर्जुआ विचारकों से प्राप्त किया था। आधुनिकतावाद कला दृष्टि और जीवन दृष्टि के रूप में एक विश्वव्यापी

प्रवृत्ति रही है और इसके प्रगति विरोधी तथा प्रगतिशील दोनों ही रूप कला और साहित्य में प्रकट हुए हैं। नई कविता के प्रगति विरोधी व्यक्तिवादियों ने इतिहास और परंपरा से मुक्ति के आग्रही आधुनिकतावाद को ही स्वीकार किया। नयी कविता के आधुनिकतावादियों ने आस्था, अनास्था, अस्तित्व के संकट, संत्रास और मृत्यु बोध आदि को ही आधुनिक भाव बोध की प्रमुख विशेषताओं के रूप में प्रचारित किया और इन्हें अपनी कविताओं में उतारा। इन आधुनिकतावादियों में से कुछ अस्तित्ववाद से भी प्रभावित हुए थे। इस दौर में आधुनिकता की जितनी चर्चा हुई उतनी शायद ही किसी दूसरी समस्या की हुई हो। आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता को कविता और कहानी में प्रगतिवाद और यथार्थवाद के विरोधी सिद्धान्त के रूप में प्रचारित किया। हिन्दी के यथार्थवाद विरोधी आधुनिकतावादियों ने आधुनिकता के नाम पर उधार के विचारों, कल्पित स्थितियों और संकुचित मनोवृत्तियों की अभिव्यक्ति को ही आधुनिकता मान लिया और अपने समय के समाज और जीवन की व्यापक गतिविधियों से आंख मूंदकर अपनी चेतना के घेरे में चक्कर काटते रहे। मुक्तिबोध ने हिन्दी के आधुनिकतावादियों की समझ की सीमा स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "इस आधुनिक भाव बोध में उन उत्पीडनकारी शक्तियों का बोध शामिल नहीं है, जिन्हें हम शोषण कहते हैं, पूंजीवाद कहते हैं, साम्राज्यवाद कहते हैं, तथा उन संघर्षकारी शक्तियों का बोध भी शामिल नहीं है जिन्हें हम जनता कहते हैं शोषित वर्ग कहते हैं।" ('नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र' पृ० 59) कहने का तात्पर्य यह है कि यह आधुनिकतावाद समकालीन जीवन और समाज की वास्तविकताओं से पूरी तरह कटा हुआ जन विरोधी, प्रगति विरोधी और यथार्थवाद विरोधी जीवन दृष्टि और कला दृष्टि था, जिसका मुक्तिबोध ने जमकर विरोध किया।

मुक्तिबोध ने नयी कविता के कलावादी, व्यक्तिवादी और प्रगति विरोधी कला दर्शन, जीवन दृष्टि और राजनीतिक दृष्टि के विरुद्ध संघर्ष करते हुए साहित्य की आलोचना को व्यापक विचारधारात्मक संघर्ष में बदलने का प्रयास किया था। मुक्तिबोध ने नयी कविता की जिन प्रवृत्तियों के विरुद्ध संघर्ष चलाया था वे प्रवृत्तियां आज भी हिन्दी साहित्य में कमोबेश मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में मुक्तिबोध के आलोचनात्मक संघर्ष को याद करना केवल एक ऐतिहासिक प्रसंग को याद करना नहीं है, बल्कि समकालीन आवश्यकता के लिए इतिहास की पहचान करना है। इन प्रवृत्तियों के विरुद्ध विचारधारात्मक संघर्ष चलाना आज भी उतना ही जरूरी है जितना वह मुक्तिबोध के समय में था।

3

नयी कविता के व्यक्तिवादियो ने प्रगतिशील साहित्य और विचारधारा का विरोध करते हुए साहित्य, समाज और राजनीति सबधी पूजीवादी साम्राज्यवादी विचारो के प्रचार प्रसार का ही प्रयास नही किया, उनके कुछ बौद्धिक नेताओ ने मार्क्सवादी दर्शन, साहित्य सिद्धान्त और समाजवादी समाज व्यवस्था के खिलाफ भी अभियान चलाया। नयी कविता की प्रगतिवाद विरोधी धारा के एक मुख्य बौद्धिक नेता विजयदेव नारायण साही रहे हैं। उन्होने अक्टूबर 1953 की 'आलोचना' मे 'मार्क्सवादी समीक्षा और उसकी कम्युनिस्ट परिणति' नामक लेख लिखा था। यह बहुत आश्चर्य की बात है कि इस लेख का प्रतिवादियो की ओर से जैसा विरोध होना चाहिए था, वैसा नही हुआ। यह लेख मार्क्सवादी दर्शन, सौन्दर्यशास्त्र, साहित्य सिद्धान्त, आलोचना, साहित्य, साहित्यकार, समाजवादी समाज व्यवस्था और कम्युनिस्ट पार्टी की घोर निन्दा और भोडी आलोचना से भरा हुआ है। इसमे विकृत तर्कों और सदर्भरहित उद्धरणो के सहारे एक मार्क्सवादी लेखक के विचारो को एक दूसरे मार्क्सवादी लेखक के विचारो के विरुद्ध रखकर मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन मे इतिहास की गलत तस्वीर पेश की गई है। इसमे लगे हाथो प्रगतिशील आन्दोलन और उसके समर्थको की निन्दा का अवसर भी निकाल लिया गया है। ऐसा ही एक दूसरा लेख 1960 की 'वसुधा' मे छपा था। इस लेख के लेखक थे गोरखनाथ। हाल मे छपे प्रमोद वर्मा के 'हलफनामा' से साबित होता है कि प्रमोद वर्मा ही गोरखनाथ थे। इस लेख मे सिद्ध करने का प्रयास किया गया था कि मार्क्सवाद प्राय साहित्य के सौन्दर्य पक्ष की उपेक्षा करता है। मुक्तिबोध ने गोरखनाथ के मनगढन्त आरोपो का मुहतोड उत्तर देते हुए एक लेख लिखकर मार्क्सवादी सौन्दर्यशास्त्र की अनेक समस्याओ से सम्बन्धित चिन्तन के बारे मे गोरखनाथ और उनके जैसे दूसरे मार्क्सवाद विरोधियो के भ्रम और अज्ञान को दूर करने का प्रयास किया था। मुक्तिबोध का यह लेख अपने समय के विचारधारात्मक सघर्ष के प्रति उनकी सजगता का प्रमाण है।

जनविरोधी कलावादियों को बराबर ही साहित्य और जनता की निकटता और एकता खतरनाक लगती है। ये कलावादी लोग जनता को विवेकहीन भीड मानते हैं इसलिए कलाकार की विशिष्टता, अद्वितीयता और मौलिकता तथा कला की श्रेष्ठता के लिए जनता को खतरा समझते हैं। इनके कलावाद को खतरा ऐसे लेखको मे भी होता है जो जनता की कला चेतना को ध्यान मे रखकर, प्रयोजन और प्रभाव की एकता पर बल देते हुए रचना करते हैं। चीन के समाजवादी समाज मे पाठको की वृद्धि और विस्तार के साथ बडी सख्या मे

लेखकों के उदय से गोरखनाथ की 'मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा तथा कलात्मक सौष्ठव' का अस्तित्व संकटग्रस्त दिखाई देता था। मुक्तिबोध ने साहित्य और जनता के सम्बन्ध तथा साहित्य के निर्माण और विकास में जनता के सक्रिय सहयोग के बारे में गोरखनाथ की गलत धारणाओं का खण्डन करते हुए उन सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक स्थितियों का विश्लेषण किया है जिसके कारण साहित्य और जनता में निकटता आती है और जनता साहित्य के विकास में सहायक होती है। उन्होंने लिखा है कि "साहित्य के क्षेत्र में सामान्य जनता तभी सक्रिय हो उठती है जब उसमें कोई व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन चल रहा हो—ऐसा आन्दोलन जो उसके आत्म गौरव और आत्म-गरिमा को स्थापित और पुनः स्थापित कर रहा हो।' (नये साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र पृ० 99) चीन में साहित्य के क्षेत्र में जनता के सक्रिय होने का कारण वहां का व्यापक राजनीतिक सांस्कृतिक मुक्ति आन्दोलन था। ऐसी स्थिति में साहित्य और जनता की निकटता को खतरनाक समझना जन विरोधी प्रवृत्ति है। मुक्तिबोध ने इस प्रवृत्ति को उस व्यक्तिवाद की उपज कहा है जो जनता को मूर्ख समझता है। जहां साहित्य निर्माण का उद्देश्य व्यापक जन समुदाय की सामाजिक सांस्कृतिक आकांक्षा की अभिव्यक्ति और जनता की कला चेतना का उत्थान हो, वहां कलात्मक श्रेष्ठता के सामंती और बुर्जुआ प्रतिमान अनावश्यक और निरर्थक होते हैं।

पूंजीवादी समाज व्यवस्था में श्रम विभाजन का विकृत रूप विभिन्न प्रकार के मानसिक श्रम करने वालों के बीच अलगाव में भी दिखाई देता है। इससे ही विशिष्टता और अद्वितीयता की भावना का जन्म होता है। जब एक विशेष प्रकार का मानसिक श्रम एक खास समूह या वर्ग का पेशा बन जाता है तो वह समूह या वर्ग अपनी विशिष्टता बनाए रखने के लिए दूसरों से अपनी श्रेष्ठता और भिन्नता सिद्ध करने का प्रयत्न करता है। पेशेवर साहित्यकार साहित्य के स्वरूप, उसके विषय और उसकी श्रेष्ठता के प्रतिमानों का एक निश्चित घेरा बनाकर, साहित्य की एक अलग दुनिया मानकर उसमें जीने की कोशिश करते हैं। साहित्य की यह सीमित दुनिया अपने चारों ओर की वास्तविक दुनिया के भीतर ही होती है, इसलिए वह उससे स्वतन्त्र नहीं होती। पूंजीवादी समाज व्यवस्था में साहित्य की ऐसी सीमित दुनिया पूंजीवादी व्यवस्था के नियमों से पूरी तरह प्रभावित होती है। व्यापक जन जीवन से कटी हुई इस सीमित दुनिया में अवसरवाद, बेईमानी, चालबाजी और गुटबंदी का दमघोंटू वातावरण बनता है जिसमें ईमानदार रचनाकार छटपटाने लगता है, वह उससे बाहर निकलने की कोशिश करता है। संभवतः इसी स्थिति के निजी अनुभव के बाद मुक्तिबोध ने कहा था कि "जो व्यक्ति साहित्य की दुनिया में जितना दूर रहेगा, उसमें अच्छे

साहित्यिक बनने की संभावना उतनी ज्यादा बढ जायेगी।" *साहित्य की दुनिया* के पेशेवर साहित्यिक काल्पनिक यथार्थ और झूठी अनुभूतियों का साहित्य रचते हैं। उनके साहित्य मे "जीवन का वैविध्य प्रकट नही हो पाता, जिंदगी के असली तजुर्बे नही आ पाते और वे जीवन मूल्य स्थापित नही हो पाते जिनके लिए साधारण व्यक्ति संघर्ष करता है।' (नये साहित्य का सौंदर्यशास्त्र पृ० 100) *ऐसी स्थिति मे यह समझना मुश्किल नहीं है कि सच्चे साहित्य के निर्माण* के लिए साहित्य की झूठी दुनिया से बाहर निकलना कितना जरूरी है।

समाजवादी समाज मे वास्तविक दुनिया और साहित्य की दुनिया के बीच का झूठा विभाजन नही होता इसलिए उसमे सामान्य जनता के बीच से भी रचनाकार पैदा होते हैं। चीन के समाजवादी समाज म अगर आम जनता म से रचनाकार पैदा हो रहे थे तो उस स्थिति को कला की श्रेष्ठता के लिए खतरा वे महसूस कर रहे थे जो सामंती और पूंजीवादी समाज व्यवस्था के प्रभुत्व शाली वर्गों के हितो और संस्कारो म अनेक साहित्य की कल्पित दुनिया म रहने के आदी लेखक थे या फिर पूंजीवादी देशो मे रहने वाले उनके मानवधर्मी साहित्यकार। अपने को मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न और जनता *को साहित्य की श्रेष्ठता के लिए खतरा समझने वालो के साहित्यि 'अहंवाद' की* मुक्तिबोध ने तीव्र आलोचना की। जन वादी साहित्य जन विरोधी लोगो को सदा कलाहीन लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि उन लोगो को 'उस साहित्य के मूल मानवीय तत्त्वो स कोई सहानुभूति नही होती।'

जनवादी साहित्य और जनता के साहित्य को सौंदर्य और कला की दृष्टि से हीनतर मानन के पीछे जो कलावादी चेतना होती है वह व्यक्तिवादी की ही उपज है। मुक्तिबोध ने इस सौंदर्यवाद की आलोचना करत हुए लिखा है कि सौंदर्यवाद के नाम से प्रचलित व्यक्तिबद्धता की जो प्रवृत्ति है उस (हम) उस सौंदर्यवाद से अलग करके देखते हैं जिसका संबंध व्यापक प्रभावोत्पादकता के साहित्यिक गुण स है। अतएव हम उस कलात्मकता के समर्थकों के साथ हैं जो वस्तुत समर्पित भाव से जनता मे स आये हुए लेखकों के कलात्मक स्तर को ऊंचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखत हो तथा अपन स्वयं की साहित्य रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का मार्ग प्रशस्त करत हो, किन्तु हम कलात्मकता के उन समर्थकों क विरुद्ध हैं जो जनता म स आय हुए लेखकों की आपाततः अपरिपक्वता का निन्दा प्रचार केवल इसलिए करत हैं कि उनके साहित्यिक निस्सारवाद की अर्थात व्यक्तिवादी सांस्कृतिकता की रक्षा हो सके ? (नये साहित्य का सौन्दर्य शास्त्र पृ० 102) जो स्वयं अपने मतन म सौन्दर्य और कला क नाम पर अबूझ पहेली गढ़त हैं वे अगर जनता क साहित्य म सौंदर्य और कला के अभाव की

बात करते हैं तो इसे उनकी कुत्सित व्यक्तिवादी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए।

मार्क्सवाद और समाजवादी समाज-व्यवस्था की निन्दा करने वाला का एक पुराना और परिचित तर्क यह है कि अगर मार्क्सवाद बेहतर दर्शन है और समाजवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था से उच्चतर समाज व्यवस्था है तो रूस और चीन मे क्रान्ति के बाद का साहित्य क्रान्ति पहले के साहित्य से श्रेष्ठतर क्यो नही है ? गोरखनाथ ने अपने लेख मे इस तर्क को रखा था। प्रायः इस तर्क का जाप करने वाले क्राति के पहले के महान साहित्य और क्राति के बाद म सामान्य साहित्य की तुलना करके यह सिद्ध करना चाहते है कि रूस और चीन मे क्राति के बाद क्राति से पहले की तुलना मे श्रेष्ठतर साहित्य की रचना नही हुई है। इससे वे यह भी सिद्ध करना चाहते है कि मार्क्सवाद और समाजवादी समाज, कला और साहित्य से दुश्मन हैं। अगर हम इस विचार और तर्क शैली की परीक्षा करें तो देखेंगे कि वह मार्क्सवाद और समाजवादी समाज व्यवस्था को बदनाम करने की बदनीयती से परिचालित है। मुक्तिबोध ने इस तर्क-पद्धति की असलियत को खोलते हुए लिखा है कि क्राति के पहले और क्राति के बाद के साहित्य की तुलना करते समय दोना कालो की या तो सामान्य रचनाओ की तुलना होनी चाहिए या महान् रचनाओ की। एक काल की महान रचना से दूसरे काल की सामान्य रचना की तुलना करके परवर्ती समाज व्यवस्था की निन्दा करन बौद्धिक बेईमानी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन चीनी या रूसी साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना उसको घटिया बताना अपने अज्ञान को दूसरा पर थोपना है। तीसरी बात यह ह कि समाज के विकास के साथ साथ उसी अनुपात मे साहित्य और कला का भी विकास हो—यह जरूरी नही। इस बात के प्रमाण समाजवादी देशो मे ही नही, पूंजीवादी देशो के भी इतिहास मे मिल जायेंगे। दुनिया भर के साहित्य के इतिहास को जाने दीजिए, क्या स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी साहित्य मे प्रेमचद से बडा कोई उपन्यासकार पैदा हो गया है ? अगर दुनिया भर के साहित्य की यही स्थिति है तो इसके लिए केवल समाजवादी देशो को कोसना कहाँ तक उचित है ? एक और बात ध्यान देने की है। कई समाजवादी देशो म जो अनेक प्रकार की कमजोरिया हैं उनको मार्क्सवाद की कमजोरिया मान लेना उचित नही है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले किसी व्यक्ति या समाजवादी कहने वाले देश के दोषा और गलतियो को मार्क्सवाद के दोष और गलतिया मान लेना गलत है। पूंजीवादी देशो म रहने वाले और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर रचना करने वाले ऐसे अनेक महान साहित्यकार हुए हैं जो किसी भी युग के महान् से महान् साहित्यकारो की बराबरी कर सकते हैं।

साहित्यिक बनने की सभावना उतनी ज्यादा बढ जायेगी ।" साहित्य की दुनिया के पशेवर साहित्यिक काल्पनिक यथाथ और झूठी अनुभूतियो का साहित्य रचते है। उनके साहित्य मे 'जीवन का वैविध्य प्रकट नही हो पाता, जिन्दगी के असली तजुर्बे नही आ पाते और वे जीवन मूल्य स्थापित नही हो पाते जिनके लिए साधारण व्यक्ति सघष करता है।" (नये साहित्य का सौदयशास्त्र पृ० 100) ऐसी स्थिति मे यह समझना मुश्किल नही है कि सच्चे साहित्य के निर्माण के लिए साहित्य की झूठी दुनिया से बाहर निकलना कितना जरूरी है।

समाजवादी समाज मे वास्तविक दुनिया और साहित्य की दुनिया के बीच का झूठा विभाजन नहीं होता इसलिए उसमे सामान्य जनता के बीच से भी रचनाकार पैदा होते है। चीन के समाजवादी समाज मे अगर आम जनता मे से रचनाकार पैदा हो रहे थे तो उस स्थिति को कला की श्रेष्ठता के लिए खतरा वे महसूस कर रह थे जो सामती और पूजीवादी समाज व्यवस्था के प्रभुत्व वाली वर्गों के हितो और सस्कारो मे अनेक साहित्य की कल्पित दुनिया मे रहने के आदी लेखक थे या फिर पूजीवादी देशो मे रहने वाले उनके मानवधर्मा साहित्यकार। अपने को मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न और जनता को साहित्य की श्रेष्ठता के लिए खतरा समझने वालो के साहित्यि 'अहवाद' की मुक्तिबोध ने तीव्र आलोचना की। जन वादी साहित्य जन विरोधी लोगो को सदा कलाहीन लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि उन लोगो को 'उस साहित्य के मूल मानवीय तत्वो स कोई सहानुभूति नही होती।'

जनवादी साहित्य और जनता के साहित्य को सौदय और कला की दष्टि से हीनतर मानने के पीछे जो कलावादी चेतना होती है वह व्यक्तिवादी की ही उपज है। मुक्तिबोध ने इस सौदयवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि सौदयवाद के नाम से प्रचलित व्यक्तिबद्धता की जो प्रवत्ति है उस (हम) उस सौदयवाद से अलग करके देखते हैं जिसका सबध व्यापक प्रभावोत्पादकता मे साहित्यिक गुण से है। अतएव हम उस कलात्मकता के समथक के साथ हैं जो वस्तुत समर्पित भाव से जनता मे म आये हुए लेखको के कलात्मक स्तर को ऊचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखते हो तथा अपन स्वय की साहित्य रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का माग प्रशस्त करते हो, किन्तु हम कलात्मकता के उन समथको के विरुद्ध हैं जो जनता में से आय हुए लेखको की आपक्षित अपरिपक्वता का निदशन प्रदशन केवल इसलिए करते हैं कि उनके साहित्यिक शिखरवाद की अर्थात व्यक्तिवादी सास्कृतिकता की रक्षा हो सके ? (नय साहित्य का सौदय शास्त्र पृ० 102) जो स्वय अपने लेखन म सौदय और कला के नाम पर अबूझ पहली गढ़त हैं वे अगर जनता के साहित्य म सौदय और कला के अभाव की

बात करते हैं तो इसे उनकी कुत्सित व्यक्तिवादी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए।

मार्क्सवाद और समाजवादी समाज व्यवस्था की निदा करने वालो का एक पुराना और परिचित तर्क यह है कि अगर मार्क्सवाद बेहतर दर्शन है और समाजवादी अर्थव्यवस्था पूजीवादी व्यवस्था से उच्चतर समाज व्यवस्था है तो रूस और चीन मे क्राति के बाद का साहित्य क्राति पहले के साहित्य से श्रेष्ठतर क्यो नही है ? गोरखनाथ ने अपने लेख म इस तर्क को रखा था। प्राय इस तर्क का जाप करने वाले क्राति के पहले के महान साहित्य और क्राति के बाद म सामान्य साहित्य की तुलना करके यह सिद्ध करना चाहते है कि रूस और चीन म क्राति के बाद क्राति से पहले की तुलना म श्रेष्ठतर साहित्य की रचना नही हुई है। इससे वे यह भी सिद्ध करना चाहते है कि मार्क्सवाद और समाजवादी समाज, कला और साहित्य से दुश्मन हैं। अगर हम इस विचार और तर्क-शैली की परीक्षा करें तो देखेंगे कि वह मार्क्सवाद और समाजवादी समाज व्यवस्था को बदनाम करने की बदनीयती से परिचालित है। मुक्तिबोध ने इस तर्क-पद्धति की असलियत को खोलते हुए लिखा है कि क्राति के पहले और क्राति के बाद के साहित्य की तुलना करते समय दोनो कालो की या तो सामान्य रचनाओ की तुलना होनी चाहिए या महान रचनाओ की। एक काल की महान रचना से दूसरे काल की सामान्य रचना की तुलना करके परवर्ती समाज व्यवस्था की निदा करना बौद्धिक बेईमानी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन चीनी या रूसी साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना उसको घटिया बताना अपने अज्ञान को दूसरो पर थोपना है। तीसरी बात यह है कि समाज के विकास के साथ साथ उसी अनुपात म साहित्य और कला का भी विकास हो—यह जरूरी नही। इस बात के प्रमाण समाजवादी देशो म ही नही, पूजीवादी देशो के भी इतिहास म मिल जायेंगे। दुनिया भर के साहित्य के इतिहास को जाने दीजिए, क्या स्वतत्रता के बाद के हिंदी साहित्य म प्रेमचद से बडा कोई उपन्यासकार पैदा हो गया है ? अगर दुनिया भर के साहित्य की यही स्थिति है तो इसके लिए केवल समाजवादी देशो को कोसना कहाँ तक उचित है ? एक और बात ध्यान देने की है। कई समाजवादी देशो मे जो अनेक प्रकार की कमजोरियाँ हैं उनको मार्क्सवाद की कमजोरियाँ मान लेना उचित नही है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले किसी व्यक्ति या समाजवादी कहने वाले देश के दोषो और गलतियो को मार्क्सवाद के दोष और गलतियाँ मान लेना गलत है। पूजीवादी देशो म रहते वाले और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर रचना करने वाले ऐसे अनेक महान साहित्यकार हुए हैं जो किसी भी युग के महान् से महान् साहित्यकारो की बराबरी कर सकते हैं।

साहित्यिक बनने की सभावना उतनी ज्यादा वढ जायेगी।" साहित्य की दुनिया के पेशेवर साहित्यिक काल्पनिक यथाथ और झूठी अनुभूतियो का साहित्य रचते हैं। उनके साहित्य मे "जीवन का वैविध्य प्रकट नही हो पाता, जिन्दगी के असली तजुर्बे नही आ पाते और वे जीवन मूल्य स्थापित नही हो पाते जिनके लिए साधारण व्यक्ति सघष करता है।" (नये साहित्य का सौन्दयशास्त्र पृ० 100) ऐसी स्थिति मे यह समझना मुश्किल नही है कि सच्चे साहित्य के निर्माण के लिए साहित्य की झूठी दुनिया से बाहर निकलना कितना जरूरी है।

समाजवादी समाज मे वास्तविक दुनिया और साहित्य की दुनिया के बीच का झूठा विभाजन नही होता इसलिए उसमे सामान्य जनता के बीच से भी रचनाकार पैदा होते है। चीन के समाजवादी समाज म अगर आम जनता मे से रचनाकार पैदा हो रहे थे तो उस स्थिति को कला की श्रेष्ठता के लिए खतरा वे महसूस कर रहे थे जो सामती और पूजीवादी समाज व्यवस्था के प्रभुत्व शाली वर्गों के हितो और सस्कारो म अनेक साहित्य की कल्पित दुनिया मे रहने के आदी लेखक थे या फिर पूजीवादी देशो मे रहन वाले उनके मानवधर्मा साहित्यकार। अपने को मौलिक तथा विशिष्ट प्रतिभा से सम्पन्न और जनता को साहित्य की श्रेष्ठता के लिए खतरा समझने वालो के साहित्यि 'अहवाद' की मुक्तिबोध ने तीव्र आलोचना की। जन वादी साहित्य जन विरोधी लोगो को सदा कलाहीन लगता है। ऐसा इसलिए होता है कि उन लोगो को 'उस साहित्य के मूल *मानवीय तत्वो से कोई सहानुभूति नही होती।'*

जनवादी साहित्य और जनता के साहित्य को सौन्दय और कला की दृष्टि से हीनतर मानने के पीछे जो कलावादी चेतना होती है वह व्यक्तिवादी की ही उपज है। मुक्तिबोध ने इस सौन्दयवाद की आलोचना करते हुए लिखा है कि सौन्दयवाद के नाम स प्रचलित व्यक्तिवद्धता की जो प्रवृत्ति है उस (हम) उस सौन्दयवाद से अलग करके दखते हैं जिसका सबध व्यापक प्रभावोत्पादकता के साहित्यिक गुण से है। अतएव हम उस कलात्मकता के समथका के साथ हैं जो वस्तुत समर्पित भाव से जनता मे से आये हुए लेखको के कलात्मक स्तर को ऊचा उठाने की तत्पर बुद्धि रखत हो तथा अपने स्वय की साहित्य रचना द्वारा वास्तविक कलात्मकता का माग प्रशस्त करते हो, किन्तु हम कलात्मकता के उन समथका के विरुद्ध हैं जो जनता मे से आये हुए लेखको की आपक्षित अपरिपक्वता का निदशन प्रदशन केवल इसलिए करत हैं कि उनके साहित्यिक शिखरवाद की अथात व्यक्तिवादी सास्कृतिकता की रक्षा हो सके ? (नये साहित्य का सौन्दय शास्त्र पृ० 102) जो स्वय अपन लखन म सौन्दय और कला के नाम पर अबूझ पहेली गढत हैं वे अगर जनता के साहित्य मे सौन्दय और कला के अभाव की

बात करते हैं तो इसे उनकी कुत्सित व्यक्तिवादी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति ही समझना चाहिए।

मार्क्सवाद और समाजवादी समाज-व्यवस्था की निन्दा करने वालों का एक पुराना और परिचित तर्क यह है कि अगर मार्क्सवाद बेहतर दर्शन है और समाजवादी अर्थव्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था से उच्चतर समाज व्यवस्था है तो रूस और चीन में क्रान्ति के बाद का साहित्य क्रान्ति पहले के साहित्य से श्रेष्ठतर क्यों नहीं है? गोरखनाथ ने अपने लेख में इस तर्क को रखा था। प्रायः इस तर्क का जाप करने वाले क्रान्ति के पहले के महान् साहित्य और क्रान्ति के बाद में सामान्य साहित्य की तुलना करके यह सिद्ध करना चाहते हैं कि रूस और चीन में क्रांति के बाद क्रांति से पहले की तुलना में श्रेष्ठतर साहित्य की रचना नहीं हुई है। इससे वे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि मार्क्सवाद और समाजवादी समाज, कला और साहित्य से दुश्मन है। अगर हम इस विचार और तर्क-शैली की परीक्षा करें तो देखेंगे कि वह मार्क्सवाद और समाजवादी समाज व्यवस्था को बदनाम करने की बदनीयती से परिचालित है। मुक्तिबोध ने इस तर्क-पद्धति की असलियत को खोलते हुए लिखा है कि क्रांति के पहले और क्रांति के बाद के साहित्य की तुलना करते समय दोनों कालों की या तो सामान्य रचनाओं की तुलना होनी चाहिए या महान् रचनाओं की। एक काल की महान् रचना से दूसरे काल की सामान्य रचना की तुलना करके परवर्ती समाज-व्यवस्था की निन्दा करना बौद्धिक बेईमानी है। दूसरी बात यह है कि समकालीन चीनी या रूसी साहित्य के सम्यक् अध्ययन के बिना उसको घटिया बताना अपने अज्ञान को दूसरों पर थोपना है। तीसरी बात यह है कि समाज के विकास के साथ साथ उसी अनुपात में साहित्य और कला का भी विकास हो—यह जरूरी नहीं। इस बात के प्रमाण समाजवादी देशों में ही नहीं, पूंजीवादी देशों के भी इतिहास में मिल जायेंगे। दुनिया भर के साहित्य के इतिहास को जाने दीजिए, क्या स्वतन्त्रता के बाद के हिन्दी साहित्य में प्रेमचन्द से बड़ा कोई उपन्यासकार पैदा हो गया है? अगर दुनिया भर के साहित्य की यही स्थिति है तो इसके लिए केवल समाजवादी देशों को कोसना कहाँ तक उचित है? एक और बात ध्यान देने की है। कई समाजवादी देशों में जो अनेक प्रकार की कमजोरियाँ हैं, उनको मार्क्सवाद की कमजोरियाँ मान लेना उचित नहीं है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले किसी व्यक्ति या समाजवादी कहने वाले देश के दोषों और गलतियों को मार्क्सवाद के दोष और गलतियाँ मान लेना गलत है। पूंजीवादी देशों में रहने वाले और मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित होकर रचना करने वाले ऐसे अनेक महान् साहित्यकार हुए हैं जो किसी भी युग के महान् से महान् साहित्यकारों की बराबरी कर सकते हैं।

अपने लेख म मार्क्सवादी साहित्य चिंतन, सौन्दयशास्त्र और आलोचना के विकास स अपरिचित गोरखनाथ न यह भी लिखा है कि मार्क्सवादी साहित्य विचारको न सौन्दयशास्त्रीय प्रश्नो पर या तो विचार नही किया है या सतही ढग से विचार किया है। इसस जुडा हुआ उनका दूसरा आरोप यह भी है कि मार्क्सवादी साहित्य मे प्रचार अधिक और सौन्दय कम होता है, इसलिए मार्क्सवादी सौन्दयशास्त्र के प्रश्नो पर विचार नही करत। 1960 तक दुनिया भर के मार्क्सवादी आलोचको और रचनाकारो न साहित्य और कला के सौन्दय सबधी प्रश्नो पर जितना महत्त्वपूण चितन किया था, और जो कुछ प्रकाश म आया था, उसस अगर गोरखनाथ परिचित होते तो वे ऐसा आरोप नही लगाते। गोरखनाथ के दूसरे आरोप के बारे मे यही कहा जा सकता है कि अगर सौन्दर्यशास्त्र के प्रश्नो पर बहस करन म ही बहस करने वाला की रचनाओं म सौन्दय आ जाता तो नयी कविता के कलावादियो म सौन्दय की बाढ आ गई होती।

मुक्तिबोध ने गोरख नाथ के लेख का उत्तर दते हुए मार्क्सवादी साहित्य, चिंतन और समाजवादी समाज व्यवस्था के बारे मे फैलाये जा रह तरह-तरह के भ्रमो का खण्डन किया। यह आज भी विचारधारात्मक सघप का एक महत्त्वपूण पक्ष है। ऐसे आरोपो के खण्डन को अनावश्यक मानकर छोड देना ठीक नही है। क्योंकि इससे एक ओर गोरखनाथ जैसे मार्क्सवाद विरोधियो का हौसला बढता है और दूसरी ओर मार्क्सवाद तथा समाजवाद की ओर बढती हुई जनता के मन मे अनेक प्रकार क भ्रमो और भटकावो के लिए जगह बनती है।

4

मुक्तिबोध के आलोचनात्मक सघप का चौथा प्रसग उस समय की प्रगतिशील आलोचना से जुडा हुआ है। इस दिशा मे सघप की राह कठिनाई और खतरो से भरी हुई थी। यह सघप दुश्मनो से नही, अपनो से था, इसलिए उससे अधिक सावधानी की जरूरत थी। इस दिशा मे मुक्तिबोध का आलोचनात्मक सघप बहुत कुछ आत्मालोचन जैसा था। मार्क्सवादी केवल वग शत्रुओ से ही सघष नही करते, वे अपने व्यावहारिक अनुभवो के आलोक म आत्मालोचन करत हुए अपनी कमजोरियो पर भी अपनी विजय प्राप्त करते हैं। अपने समय की प्रगतिवादी आलोचना और आलोचको से मुक्तिबोध का यह आलोचनात्मक सघप प्रगतिवादी आलोचको के आलोचनात्मक व्यवहार की कमजोरिया और असगतियों मे मुक्त होन क लिए ही था और उसको इसी रूप म समझना उचित होगा।

विचारधारात्मक सघप के सदभ मे उस काल की प्रगतिवादी आलोचना

के सामने तीन मुख्य उद्देश्य थे। परम्परा का विवेकपूर्ण मूल्यांकन, प्रगति विरोधी रचना दृष्टियों से संघर्ष और प्रगतिशील रचनाशीलता के विकास का मार्गदर्शन। किसी भी काल की मार्क्सवादी आलोचना के ये महत्त्वपूर्ण प्रयोजन हैं। इन उद्देश्यों को पूरा करने में उस समय की मार्क्सवादी आलोचना से जहां कहीं चूक हुई, उसकी मुक्तिबोध ने आलोचना की। मुक्तिबोध के इस आलोचनात्मक संघर्ष का लक्ष्य हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना को अधिक पूर्ण और बेहतर बनाना था।

हिंदी की मार्क्सवादी आलोचना ने हिंदी साहित्य की जनवादी और प्रगतिशील परम्परा की रक्षा और मूल्यांकन का काम किया है। इस दिशा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण योगदान डॉ० रामविलास शर्मा का है। नयी कविता के काल में प्रगतिशील आलोचकों ने परम्परा के मूल्यांकन के प्रसंग में मध्यकाल के संत भक्ति साहित्य और आधुनिक काल के छायावाद को मुख्य रूप से बहस का विषय बनाया था। छायावाद के मूल्यांकन में दूसरे आलोचकों से मुक्तिबोध के दृष्टिकोण की भिन्नता की चर्चा हो चुकी है, इसलिए हम यहां संत-भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में दूसरे प्रगतिशील आलोचकों से मुक्तिबोध के दृष्टिकोण के अंतर की चर्चा करेंगे।

प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन मार्क्सवादी आलोचना के सामने एक गंभीर चुनौती और समस्या है और दुनिया भर के मार्क्सवादी आलोचकों ने इस चुनौती और समस्या का सामना किया है। साहित्य के स्थायी मूल्यों की खोज और अतीत की महान कलाकृतियों के कलात्मक प्रभाव के स्थायित्व की व्याख्या का प्रश्न भी इस समस्या से जुड़ा हुआ है। प्रगतिवाद के प्रारंभिक दौर से ही संत भक्ति साहित्य के मूल्यांकन को लेकर बहस और मतभेद की स्थिति बनी हुई थी। नई कविता के काल में भी यह बहस समाप्त नहीं हुई थी। संत भक्ति साहित्य संबंधी इस बहस में रांगेय राघव, यशपाल, प्रकाशचंद्र गुप्त डॉ० रामविलास शर्मा और मुक्तिबोध ने मुख्य रूप से हिस्सा लिया था।

डॉ० रामविलास शर्मा ने रांगेय राघव यशपाल और प्रकाशचंद्र गुप्त आदि की संत साहित्य को प्रतिक्रियावादी घोषित करने वाली एकांगी और असंतुलित आलोचना की आलोचना करते हुए संत भक्ति साहित्य को मानवतावादी और प्रगतिशील सिद्ध किया। संत-भक्ति साहित्य के मूल्यांकन में डॉ० रामविलास शर्मा का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत संतुलित है इसलिए उनके दृष्टिकोण के साथ मुक्तिबोध के संत भक्ति-साहित्य के मूल्यांकन और दृष्टिकोण को रखकर देखना उचित होगा।

प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन के प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह कि प्राचीन साहित्य के मूल्यांकन का आधार क्या है? डॉ० रामविलास शर्मा ने

लिखा है कि "हम उसकी विषय वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य को ऐतिहासिक दृष्टि से देखकर उसका उचित मूल्याकन कर सकते हैं।" प्राचीन साहित्य के मूल्याकन का यह दृष्टिकोण अपर्याप्त होते हुए भी सही हैं। डॉ० शर्मा का यह भी कहना है कि कई बार कृति की विचारधारा और विषय-वस्तु मे अर्तविरोध होता है। इस बात के अनेक उदाहरण दुनिया भर के साहित्य मे मिलते हैं। लेकिन कठिनाई यह है कि डॉ० शर्मा रचना म यथार्थ बोध और विचारधारा के अर्तविरोध को आकस्मिक नही मानते, वे ललित कलाओ को (जिनमे साहित्य भी शामिल है) विचारधारात्मक रूपो म गिनना ही गलत मानते है। इससे ऐसा लगता है कि डॉ० शर्मा के अनुसार यथार्थ बोध और विचारधारा म शाश्वत अर्तविरोध होता है। डॉ० शर्मा विचारधारा को विचार का पर्याय मानते हैं जबकि विचारधारा केवल विचारो की धारा नही है, उसमे इन्द्रिय बोध, भावना, विश्वास और चेतना का भी समावेश होता है। विचारधारा मे रचनाकार के समय, समाज, वर्ग और चेतना की ऐतिहासिक स्थिति प्रकट होती हैं। यही कारण है कि विचारधारा की उपेक्षा करके केवल विषय वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन करने वाली मार्क्सवादी आलोचना प्राचीन साहित्य के सम्यक मूल्याकन मे सफल नही हो सकती। प्राचीन साहित्य के मूल्याकन के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से कृति के यथार्थ बोध, विचारधारा और कलात्मक सौन्दर्य की समीक्षा करना जरूरी है।

सत भक्ति साहित्य के मूल्याकन मे यशपाल, रांगेय राघव और प्रकाश चन्द्र गुप्त आदि ने केवल विचारधारा को देखा, यथार्थबोध और कलात्मक सौन्दर्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन नही किया, इसलिए वे गलत निष्कर्ष के शिकार हुए। डॉ० रामविलास शर्मा ने तुलसीदास की कविता की विषय वस्तु और कलात्मक सौन्दर्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याकन किया, लेकिन उन्होने तुलसीदास की उस विचारधारा पर ध्यान नही दिया जिसमे पर्याप्त प्रतिक्रियावादी तत्व हैं और अब भी हमारे समाज मे उनका प्रभाव है।

मुक्तिबोध का एक निबध है 'मध्ययुगीन भक्ति आदोलन का एक पहलू'। इस निबध मे मुक्तिबोध ने भक्ति साहित्य के मूल्याकन सबधी प्रगतिशील आलोचको के बीच की बहस का स्पष्ट उल्लेख नही किया है लेकिन निबध म उस बहस की गूज सुनाई पडती है। मुक्तिबोध भक्ति आदोलन को सामान्य जनता के व्यापक सामाजिक, सास्कृतिक आदोलन की अभिव्यक्ति मानते हैं। उनके अनुसार भक्ति आदोलन और उसका साहित्य देश के विभिन्न भागो मे स्थानीय सामाजिक ऐतिहासिक स्थितियो के अनुरूप विकसित हुआ। वे मानते हैं कि सत भक्ति साहित्य की मूल चेतना सामतवाद विरोधी और जनवादी थी और उसका सदेश उस समय ऐतिहासिक स्थिति मे क्रातिकारी था। कबीर म 'मनुष्य सत्य की

घोषणा के क्रांतिकारी अभिप्राय प्रकट हुए। सगुण भक्ति धारा में पुराण मतवादी सामंती तत्त्व मौजूद थे। मुक्तिबोध मानते हैं कि इन दोनों से आगे चलकर संघर्ष हुआ। उन्होंने लिखा है कि "जो भक्ति आंदोलन जनसाधारण में शुरू हुआ और जिसमें सामाजिक कट्टरपन के विरुद्ध जनसाधारण की सांस्कृतिक आकांक्षायें बोलती थीं, उसका मनुष्यत्व बोलता था, उसी आंदोलन को उच्च वर्गीयों ने आगे चलकर अपनी तरह बना लिया, और उससे समझौता करके, फिर उस पर अपना प्रभाव कायम करके और अनंतर जनता के अपने तत्त्वों को उनमें से निकालकर उन्होंने उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लिया।" (नयी कविता का आत्मसंघर्ष पृ० 91) मुक्तिबोध संत भक्ति साहित्य की यथार्थ चेतना और कलात्मक सौंदर्य का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन करते हैं, लेकिन वे उसके विचारधारात्मक रूप, प्रभाव और प्रयोजन की उपेक्षा नहीं करते। यही कारण है कि वे कबीर की सामाजिक चेतना की प्रशंसा करते हैं, लेकिन कबीर के रहस्यवाद की आलोचना भी करते हैं। तुलसी की कला पर मुग्ध लेकिन उनकी विचारधारा की उपेक्षा करने वाले प्रगतिशील आलोचकों को याद करते हुए मुक्तिबोध ने लिखा है—"आश्चर्य की बात है कि आजकल प्रगतिवादी क्षेत्रों में तुलसीदास के संबंध में जो कुछ लिखा गया है, उसमें जिस सामाजिक ऐतिहासिक प्रक्रिया के तुलसीदास अंग थे, उसको जान बूझकर भुलाया गया है।" (नयी कविता का आत्मसंघर्ष पृ० 93)

मुक्तिबोध का विचार है कि भक्ति आंदोलन और उसके साहित्य को या किसी भी प्राचीन साहित्य को "तीन दृष्टियों से देखना चाहिए—एक तो यह कि वह किन सामाजिक, सांस्कृतिक प्रक्रियाओं का अंग है, दूसरे यह कि उसका अंतःस्वरूप क्या है और तीसरे उसके प्रभाव क्या हैं।" (वही पृ० 93) मुक्तिबोध प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते समय उसकी समकालीन प्रासंगिकता पर विचार करना विशेष रूप से आवश्यक मानते हैं। वे साहित्य के मूल्यांकन के संदर्भ में अतीत के प्रति रक्षात्मक, वर्तमान के प्रति आक्रामक और भविष्य के प्रति संदेह की भावना से परिचालित आलोचना के विरुद्ध हैं। उनका विचार है कि वही प्राचीन साहित्य हमारे लिए प्रासंगिक होगा जिसमें व्यक्त जीवन मूल्य समकालीन समाज और जीवन के विकास में सहायक हों। उनके अनुसार प्राचीन साहित्य का मूल्यांकन करते समय वहाँ अत्यन्त सावधानी की जरूरत होगी जहाँ रचना में जीवन मूल्य प्रतिक्रियावादी हों, लेकिन कलात्मक सौंदर्य अत्यंत आकर्षक। मुक्तिबोध ने विचारधारा और कलात्मक सौंदर्य की इस अन्तर्विरोधपूर्ण स्थिति की चर्चा कामायनी के संदर्भ में की है और 'रामचरितमानस' के संदर्भ में भी।

नयी कविता और नयी कहानी के काल की प्रगतिशील आलोचना का

विश्लेषण और मूल्यांकन की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इन प्रगतिशील आलोचकों की उपेक्षा के शिकार नयी कविता के दायरे में रहकर रचना करने वाले मुक्तिबोध और शमशेर ही नहीं हुए, नयी कविता के बाहर रहकर रचना करने वाले नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन भी हुए। कुछ प्रगतिशील आलोचकों ने एक-दो कथाकारों पर अपनी कृपादृष्टि डालकर सतोष कर लिया। इस दौर की प्रगतिशील आलोचना ने प्रगतिविरोधी रचना और दृष्टि से विवाद तो खूब किया, लेकिन उसका प्रगतिशीलता से संवाद बहुत कम हुआ। यही कारण है कि इस काल की प्रगतिशील आलोचना केवल विवादी आलोचना बनकर रह गई। प्रगतिशील आलोचना को उस काल की प्रगतिशील रचनाशीलता से संवाद करने पर जो शक्ति प्राप्त होती, वह उससे भी वंचित रह गई। उस समय की प्रगतिशील आलोचना ने परम्परा के मूल्यांकन में जिस विवेक और सृजनात्मक दृष्टि का प्रमाण दिया, उस विवेक और सृजनात्मक दृष्टि का उपयोग अगर समकालीन प्रगतिशील रचनाशीलता के विश्लेषण और मूल्यांकन में भी हुआ होता तो स्थिति कुछ और हुई होती। स्वभावतः उस काल के अधिकांश प्रगतिशील रचनाकार प्रगतिशील आलोचना के रूप, व्यवहार और परिणति से क्षुब्ध थे। मुक्तिबोध ने उस समय के प्रगतिशील आलोचकों की जो आलोचना की है उसमें ऐसा ही क्षोभ प्रकट हुआ है। उनके इस क्षोभ और आक्रोश की अभिव्यक्ति 'समीक्षा की समस्याएं' नामक लम्बे लेख में सर्वाधिक हुई है।

मुक्तिबोध नयी कविता के आरंभिक काल से ही यह कहते आ रहे थे कि नयी कविता में दो धाराएं हैं—एक प्रगतिविरोधी, कलावादी, व्यक्तिवादी धारा और दूसरी प्रगतिशील धारा। उन्होंने बहुत पहले लिखा था कि "नयी कविता में प्रारंभ काल से आज तक के इस समय क्रम में अनास्था और वैफल्य की भावना के साथ ही साथ स्वस्थ, मानवीय, उन्मेषशील, मानव कल्याण-मूलक तथा कोमल मानवीय भावनापूर्ण और प्रगतिशील तत्त्व रहे हैं।" (नयी कविता का आत्मसंघर्ष पृ० 123) नयी कविता के काल में पुराने प्रगतिशील आलोचक इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार न थे। मुक्तिबोध के जीवन-काल में भी वे इस सच्चाई को पहचान न सके। उस समय नयी कविता में वे केवल विकृति और विद्रूपता देखते थे और सम्पूर्ण नयी कविता को कुण्ठा, घुटन, निराशा, अनास्था और यथार्थ की कविता कहते थे। 1977 में आकर, नयी कविता के अंत के लगभग सतरह वर्ष बाद और मुक्तिबोध की मौत के दस वर्ष बाद, डॉ० रामविलास शर्मा ने यह स्वीकार किया कि नयी कविता में अनेक काव्य-प्रवृत्तियां थीं, उसमें अस्तित्ववाद की टक्कर मार्क्सवाद से थी और नयी कविता के कवि शमशेर तथा मुक्तिबोध मार्क्सवाद से प्रभावित थे। स्वतंत्रता के बाद की हिंदी कविता के इतिहास में दो धाराओं के संघर्ष की सच्चाई को पहचानने

दूसरा मुख्य उद्देश्य प्रगति विरोधी रचना दृष्टियों से संघर्ष करना था। स्वाधीनता प्राप्ति के प्रारंभिक तीन चार वर्षों के बाद धीरे धीरे प्रगतिवाद विरोधी और यथार्थवाद विरोधी रचना दृष्टि के रूप में नयी कविता और नयी कहानी का प्रभाव और प्रभुत्व बढ़ने लगा था। हिंदी के प्रगतिशील आलोचकों ने इस प्रभाव और प्रभुत्व के प्रसार के खिलाफ संघर्ष किया किया। डॉ० रामविलास शर्मा के 'आस्था और सौंदर्य' तथा डा० नामवरसिंह के 'इतिहास और आलोचना' के अधिकांश निबंध इस प्रकार के संघर्ष के ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। लेकिन डा० रामविलास शर्मा, डॉ० नामवरसिंह, चन्द्रबलीसिंह और अमृतराय आदि अनेक आलोचकों के होते हुए भी, और अपने ढंग से प्रगति विरोधी रचना और आलोचना दृष्टि के खिलाफ उनके संघर्ष करने के बावजूद नयी कविता और नयी कहानी के काल में कलावादी और व्यक्तिवादी लेखन का ही आधिपत्य रहा और प्रगतिशील लेखन का प्रभाव घटा।

प्रश्न यह है कि ऐसी स्थिति क्यों आई? इसके अनेक कारण थे, जिनमें से कुछ की चर्चा पहले हो चुकी है। यहां केवल उन्हीं कारणों की चर्चा उचित है जिनका संबंध प्रगतिशील आलोचकों के आलोचनात्मक व्यवहार से है। सबसे पहले हम यह देखें कि क्या इस काल की प्रगतिशील रचनाशीलता कमजोर थी? आलोचना के स्तर का समकालीन और समानधर्मा रचनाशीलता के स्तर से गहरा सम्बंध होता है। इस काल में प्रगतिशील आंदोलन के विघटन और बिखराव के बावजूद कविता, कहानी और उपन्यास के क्षेत्र में एक से एक महत्त्वपूर्ण प्रगतिशील रचनाकार अपनी रचनाओं में सार्थक रचनाशीलता के प्रमाण दे रहे थे। कविता के क्षेत्र में नयी कविता के दायरे में मुक्तिबोध और शमशेर तथा नयी कविता के दायरे के बाहर नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन रचना कर रहे थे। कथा साहित्य में यशपाल, भैरव प्रसाद गुप्त, अमरकांत और मार्कण्डेय आदि सक्रिय थे। कविता और कथा साहित्य के इन रचनाकारों को पाकर दुनिया की किसी भी भाषा का साहित्य गौरव अनुभव कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस दौर की प्रगतिशील रचनाशीलता थकी हारी न थी, प्रगतिशील आलोचना ही अपना गंभीर दायित्व ठीक से पूरा न कर सकी। इस काल की प्रगतिशील आलोचना का तीसरा उद्देश्य और गंभीर दायित्व यह था कि वह उस काल की प्रगतिशील रचनाशीलता का मूल्यांकन करते हुए उसके विकास में सहायक बने।

इस काल की प्रगतिशील आलोचना के आलोचनात्मक व्यवहार पर अगर हम गौर करें तो यह पायेंगे कि प्रगतिशील आलोचकों ने—विशेषकर डॉ० रामविलास शर्मा और डॉ० नामवरसिंह ने—प्रगति विरोधी रचना और आलोचना दृष्टि के विरुद्ध संघर्ष तो किया, लेकिन प्रगतिशील रचनाशीलता के

म अगर डा० रामविलास शर्मा जैसे समर्थ आलोचक को बीस वर्ष लगाने पड़े तो दूसरे प्रगतिशील आलोचकों से क्या उम्मीद की जा सकती है! आखिर यह ऐतिहासिक दुर्घटना क्यों हुई कि नयी कविता के भीतर सक्रिय मुक्तिबोध जैसे रचनाकार की रचनाओं को कलावादी और प्रगतिवाद विरोधी रचनाकारों से अलग करके उनका उचित विश्लेषण और मूल्यांकन नहीं हुआ और नयी कविता की आलोचना के नाम पर भूसी के साथ चावल को भी फेंक दिया गया।

मुक्तिबोध का कहना है कि इसका एक कारण प्रगतिशील आलोचकों की जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि मे देखा जा सकता है। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि के फलस्वरूप ही कुछ साहित्यिक समाजशास्त्री अपने ढर्रे के बाहर के क्षेत्र मे प्रचलित नयी काव्य समृद्धि मे विद्रूपता के अतिरिक्त कुछ नही देखते थे।' मुक्तिबोध ने लिखा है कि यह जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि 'कविता को एक खास किस्म के ढाचे मे ही बधी हुई देखना चाहती है। जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि के शिकार आलोचक छायावादी प्रगतिवादी युग के काव्य पैटर्न से ही नयी कविता को भी परखते थे। इस जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि के कारण ही कुछ प्रगतिशील आलोचक नयी कविता की प्रगतिशील धारा के प्रति भी सवेदन-शील और सहानुभूतिशील नही हो पाते थे। नयी कविता की प्रगतिशील धारा के प्रति सवेदनशीलता और सहानुभूति के अभाव मे ऐसे आलोचक कविता को सिद्धान्त के उदाहरण के रूप मे देखने का प्रयत्न करते थे और निराश होकर निन्दा पर उतर आते थे।

सवाल यह है कि इस जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि का क्या कारण है? मुक्ति *बोध का विचार है कि वास्तविक जीवनानुभव का अभाव और व्यापक सामा* जिक जीवन के यथार्थ से आलोचकों की दूरी मे ही यह जडीभूत सौन्दर्याभिरुचि पैदा हुई थी। रचना मे व्यक्त सामाजिक जीवन के यथार्थ और वास्तविक जीवनानुभवों के बोध के अभाव के कारण ही आलोचक नये काव्य को सवेदन शील होकर समझ नही पाते थे। मुक्तिबोध ने अपने अनेक लेखों के बार बार आलोचकों से यह माग की है कि उन्हे भी समाज की जीवन्त गतिशील वास्त विकता का उतना ही बोध होना चाहिये जितना रचनाकारों को। वास्तव मे रचना जिस जमीन से पैदा हुई है उसको ठीक ठीक जाने बिना रचना के जमीर की सही पहचान नही हो सकती। जीवन की वास्तविकता ही वह जमीन है जिस पर रचनाकार पाठक और आलोचक तीनों मिलते हैं। मुक्तिबोध ने लिखा है "वास्तविक जीवन के सवेदनात्मक धरातल पर लेखक और समीक्षक की होड है। लेखक और समीक्षक की यह प्रतियोगिता निस्सदेह वाछनीय हैं। जिन्दगी को कौन ज्यादा समझता है? समीक्षक या लेखक? यद्यपि इन दो के कर्तव्य अलग अलग हैं फिर भी उनके कर्तव्यों की पूर्ति जीवन के वास्तविक सवेदनात्मक ज्ञान

के आधार पर ही होगी। यदि साहित्य जीवन का उद्घाटन है तो समीक्षक को यह जानना ही पड़ेगा कि उद्घाटित जीवन वास्तविक है या नहीं। असल में कसौटी वास्तविक जीवन का सवेदनात्मक ज्ञान ही है, जो न केवल लेखक और समीक्षक मे होता है, वरन् पाठक म भी रहता है।" (नयी कविता का आत्म-सघर्ष पृ० 100) वास्तविक जीवन के सवेदात्मक ज्ञान से ही आलोचक की सौदर्याभिरुचि की जडता टूटती है और वास्तविक जीवन के सवेदनात्मक ज्ञान के अभाव मे सौदर्याभिरुचि जडीभूत होने लगती है। सौदर्याभिरुचि का विकास केवल कलात्मक अनुभव से ही नही होता, उसके लिए व्यापक सामाजिक जीवन और यथार्थ का बोध भी जरूरी है। वास्तविक जीवन के यथार्थ के बोध के अभाव मे आलोचक केवल अपने पाडित्य और चतुराई के सहारे समीक्षा करता चलता है। अगर नयी कविता के काल की प्रगतिशील आलोचना उस समय की प्रगतिशील रचनाशीलता के साथ न्याय न कर सकी तो इसका अर्थ यही है कि प्रगतिशील आलोचक रचना मे व्यक्त यथार्थ और अनुभव को सामाजिक जीवन के यथार्थ और अनुभव की कसौटी पर कसने के बदले नयी रचनाशीलता को पुराने काव्य पैटन और सिद्धातो की कसौटी पर कसने की कोशिश कर रहे थे।

मार्क्सवादी आलोचको से मुक्तिबोध का कहना यह था कि मार्क्सवाद एक विज्ञान है इसलिए मार्क्सवादी आलोचको को जीवनगत और काव्यगत तथ्यो का अनुशीलन करना चाहिये था और तथ्यानुशीलन के आधार पर ही नयी कविता का मूल्याकन करना जरूरी था। उनका यह भी कहना था कि ऐसे तथ्यानुशीलन के अभाव म आलोचना आत्मग्रस्त और व्यक्ति केन्द्रित हो जाती हैं। मुक्तिबोध की यह माग थी कि जो यथार्थ की गति को एक विशेष दिशा मे मोडने की महत्त्वाकाक्षा रखते है, उन्हें यथार्थ की गति और कविता मे उसकी अभिव्यक्ति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए बेबुनियाद राएज़नी को आलोचना मानने का भ्रम नही पालना चाहिए।

प्रगतिशील आलोचको ने नयी कविता की जो आलोचना की, उसके बारे म मुक्तिबोध की राय यह है कि इस आलोचना की प्रवृत्ति ध्वसात्मक थी, दृष्टि सकीर्णतावादी और तरीका स्थूल। फलत रचनाकार आलोचको के दूर होने लगे। ऐसी ही स्थिति म नयी कविता के कलावादी व्यक्तिवादियो द्वारा प्रगतिशील रचनाशीलता पर आक्रमण हुए। मुक्तिबोध इस काल म प्रगतिशील साहित्य के प्रभाव घटन के अनेक कारणो मे से एक महत्त्वपूर्ण कारण 'प्रगतिवादियो की समीक्षा की अपूर्णताओ को भी मानते हैं। मुक्तिबोध को इस बात का गहरा दुख था कि प्रगतिवादी आलोचना की कमजोरियो के कारण नये लेखक प्रगतिवाद से दूर हटने लगे, पुराने प्रगतिशील लेखक हतोत्साहित होने

लगे और कलावादी व्यक्तिवादियो को प्रगतिशील रचनाओ और रचनाकारा पर आक्रमण करने का मौका मिल गया। इस काल की प्रगतिशील रचनाशीलता के प्रभाव को कम करने म प्रगतिशील आलोचको के समपणवादी रवये का जितना हाथ है उससे कम विध्वसवादी रवय का नही।

मुक्तिबोध न अपन समय की प्रगतिशील आलोचना की आकांक्षा और वास्तविक स्थिति पर विचार करते हुए लिखा है कि प्रगतिशील आलोचना के उद्देश्य महान थे, आलोचको का दायित्व गभीर था। आलोचको के मन म नेतृत्व की आकाक्षा थी, लेकिन उनम नेतत्व के लिए पर्याप्त आवश्यक गुण नही थे। मुक्तिबोध ने लिखा है कि "इस नतत्व की कमजोरी ने हिन्दी के वास्त विक प्रगतिशील साहित्य के और आगे विकास मे बाधा उपस्थित की है और उनके व्यक्तिगत दुराग्रहो ने उसका गला घोटने म कोई कसर नही रखी। यही कारण है कि प्रगतिशील कविता अधिक उन्नति न कर सकी और विपक्षियो को यह कहने का मौका मिला कि प्रगतिशील कविता मर गई है, उसका युग समाप्त हो गया है। (नये साहित्य का सौन्दयशास्त्र पृ० 75) प्रगतिशील आलोचना का मुख्य उद्देश्य था प्रगतिशील साहित्य के विकास का माग दशन करना और उसका सहायक बनना, लेकिन वह बदले मे उसके विकास मे बाधक बन गई। इस काल की प्रगतिशील समीक्षा की यह परिणति अत्यन्त विडम्बना पूण है।

मुक्तिबोध के अधिकाश आलोचनात्मक लेखो को पढने से यह लगता है कि जब वे नयी कविता की प्रगतिशील आलोचको द्वारा की गई आलोचना पर विचार करते है या उसकी प्रगतिवादी आलोचना की शक्ति और कमजोरियो की बात करते हैं तो उनके सामने मुख्यत आलोचक डॉ० रामविलास शर्मा रहते हैं। ऐसा इसलिए है कि डॉ० रामविलास शर्मा उस समय के सर्वाधिक समथ प्रगतिवादी आलोचक थे, (और अब भी हैं) और प्रगतिवादी समीक्षा का नेतत्व भी उन्ही के हाथा मे था। 'मुक्तिबोध और डॉ० रामविलास शर्मा के इस बहस के सन्दभ मे ब्रेरत और लकाच के बीच की बहस को याद करना अप्रासगिक न होगा। निश्चय ही न तो मुक्तिबोध ब्रेरत है और न डॉ० रामविलास शर्मा लूकाच, लेकिन इन दोना बहसा के अनेक मुद्दे एक जैसे हैं। लूकाच की तरह डॉ० रामविलास शर्मा समकालीन रचनाशीलता के ऊपर परम्परा को प्रतिष्ठित करते हैं, मुक्तिबोध ब्रेरत की तरह समकालीन रचनाशीलता की कमजोरियो की आलोचना करते हुए भी उसकी शक्ति और विकासशीलता म अपनी आस्था व्यक्त करते हैं। लूकाच युरोप के नये लेखको को 19वी शताब्दी के महान यथाथवादी लेखको के माग पर चलने की सलाह देते हैं और डॉ० शर्मा अपने समय की नई कविता के सामने छायावाद की कविता को आदश के रूप मे पेश

करते हैं। रचनाकार मुक्तिबोध बार बार ब्रेख्त की तरह ही नयी विषय वस्तु की खोज और नये शिल्प के विकास पर जोर देते हैं। मुक्तिबोध ब्रेख्त की तरह ही नयी रचनाशीलता के लिए परम्परा से अधिक महत्त्वपूण ऐतिहासिक यथाथ के परिवर्तित रूप की पहचान और उसके अनुरूप अभिव्यक्त प्रणाली के विकास को मानते है। इस प्रसग मे यह भी याद करना गलत नही होगा कि लूकाच ने अपने जीवन के अतिम दिनो मे नाटककार और कवि ब्रेख्त की महानता को स्वीकार किया था और ब्रेख्त के नये मूल्याकन का सकल्प भी किया था। इसके ठीक विपरीत डॉ० रामविलास शर्मा ने मुक्तिबोध के मरने के बाद 'धमयुग' जैसी घनघोर प्रतिक्रियावादी पत्रिका के मच से मुक्तिबोध पर निमम प्रहार किया था। इसके बाद नये प्रगतिशील रचनाकारो के बीच मुक्तिबोध की अपार लोक प्रियता से परेशान होकर निराला की साहित्य साधना भाग दो' के अत मे मुक्ति बोध के अवमूल्यन का प्रयास किया। डॉ० रामविलास शर्मा न 1977 म 'नयी कविता और अस्तित्ववाद' मे मुक्तिबोध की कविता का पुनमूल्याकन करते हुए यद्यपि अपनी अनेक पुरानी मा यताओ को हठपूवक दोहराया है और मनो विश्लेषण के सहारे मुक्तिबोध के रचनाकार व्यक्तित्व की शव परीक्षा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन अत मे मुक्तिबोध की कविता के सकारात्मक पक्षो को हिंदी कविता के नये विकास मे सहायक माना है। ये दोनो ही विवाद एक ही विचारधारा से सम्बद्ध आलोचक और रचनाकार के बीच के विवाद हैं। आलोचक परम्परा की रक्षा के लिए प्रयत्नशील दिखायी देता है और रचनाकार समकालीनता मे जीता है। रचनाकार परिवतन और नवीनता को महत्त्व देता है और आलोचक साहित्य की परम्परा और उसमे विकसित होने वाली व्यवस्था का आग्रही होता है। यह एक सच्चाई है कि युरोप के प्रगतिशील साहित्य के विकास ने ब्रेख्त की मा यताओ को स्वीकार किया है और हिन्दी के नये प्रगति शील रचनाकारो ने मुक्तिबोध को अपनाया है।

मुक्तिबोध ने प्रगतिशील आलोचको और आलोचना के साथ जो आलोचनात्मक सघप किया है वह एक प्रकार से उनके आत्मालोचन का ही प्रयास है यह हम पहले कह चुके है। मुक्तिबोध अपनी कविताओ, कहानियो और डायरियो मे आत्मालोचन करत समय जितना निमम अपने प्रति दिखाई देते हैं उतना निमम वे अपनी आलोचनाओ मे अपनो के प्रति (प्रगतिशील आलोचको के प्रति) नही है। मुक्तिबोध के इस आलोचनात्मक सघप का स्वर, अदाज और उद्देश्य आत्मालोचन का ही है। कही कही अगर उनके स्वर मे तीखापन है तो वह अपने समय की प्रगतिशील आलोचना द्वारा प्रगतिशील रचनाशीलता की उपेक्षा और प्रगतिशील आलोचना की कमजोरी के कारण प्रगति विरोधियो के बढते हुए प्रभाव से उत्पन्न गहरी वेदना और विक्षेप से पैदा हुआ है। अपनी

कमजोरियां में निर्मम आलोचक मुक्तिबोध अपने मित्रों की कमज़ोरियों के प्रति भी उदारता बरतना ठीक नहीं समझते थे। मुक्तिबोध का अपने समय की प्रगतिशील आलोचना के साथ यह आलोचनात्मक संघर्ष 'एकता और संघर्ष,' के दृष्टिकोण से परिचालित है और इसका उद्देश्य भावी प्रगतिशील आलोचना को पहले की कमज़ोरियों से मुक्त करना है। मुक्तिबोध न तो उस प्रकार की एकता के आदी थे जो केवल जय जयकार में प्रकट होती है और न उस प्रकार के संघर्ष में विश्वास करते थे जो केवल अपनों के विरुद्ध चला करता है। क्या यह अलग से कहने की जरूरत है कि ये दोनों ही आदतें इस देश की राजनीति और साहित्य में मार्क्सवादी विचारधारा के विकास में बाधक सिद्ध हुई हैं ?

शब्द और कर्म

कुछ समय पहले हिन्दी के एक लेखक ने कहा था कि "साहित्य शब्द है, कोरा शब्द नही, अर्थपूर्ण शब्द है। लेकिन अतत वह शब्द है। क्राति शब्द नही कर्म है। शब्द और कर्म दो अलग अलग चीजें हैं।"

शब्द और कर्म या साहित्य और क्राति के सम्बन्ध पर विचार करने के लिए क्राति विरोधी कुछ साहित्यकारो की बेचैनी अकारण नही है। यह सवाल अगर ईमानदारी से पैदा होता तो ऐसे लोगो को साहित्य और क्राति को केवल कलम और बन्दूक तक सीमित न करके दोनो के जटिल द्वद्वात्मक सम्बन्ध को गहराई से समझने की सलाह दी जाती। अगर यह सवाल अज्ञान से पैदा होता तो उसे टाला भी जा सकता था। लेकिन सवाल बेईमानी एव चालाकी से पैदा हुआ है भ्रम फैलाने के लिए पैदा किया गया है, इसलिए उस पर विचार करना जरूरी है। मैं नही समझता कि ऐसा कोई भी साहित्यकार होगा जो कलम से गोली दागने की मूर्खतापूर्ण कोशिश करता होगा और क्राति का कोई सामान्य सिपाही भी बन्दूक से कविता लिखने की गलती करता होगा। शब्द और कर्म के सम्बन्ध के बारे मे भ्रम पैदा करने वालो को अच्छी तरह मालूम है कि दोनो के उद्देश्य एक होते हुए भी उनके क्षेत्र और कार्य अलग अलग हैं। उद्देश्य की एकता ही दोनो को एकता के सूत्र मे बाधती है। चिंतन और लेखन को क्राति का हथियार मानने वाला साहित्यकार कलम का सिपाही होता है। चिंतन और लेखन को क्राति का हथियार समझना साहित्य के महत्व को घटाना नही, बढाना है।

यह सच है कि केवल आक्रोश, शिकायत या चीख चिल्लाहट का साहित्य क्रातिकारी साहित्य नही होता, लेकिन यह भी सच है कि हताशा, घुटन, अनास्था और कुठा का साहित्य क्रातिविरोधी होता है। शोषक व्यवस्था की असली तस्वीर को जनता के सामने प्रभावशाली ढग से रखनेवाला साहित्य क्रातिकारी होता है और वही जन चेतना को जगाने तथा उसे आगे बढाने का काम करता है। क्राति मे साहित्य की भूमिका जितनी महत्त्वपूर्ण होती है, साहित्य के विकास मे क्राति की भूमिका उससे अधिक महत्त्वपूर्ण होती है। क्राति के पक्षधर साहित्यकार अपने कर्मशील जीवन मे शब्द (साहित्य) और कर्म (क्राति) की एकता अनुभव करते हुए आगे बढ़ते है। ऐसा भी हो सकता है कि साहित्यकार

को कलम छोड़कर बन्दूक उठाने की ज़रूरत पड़ जाय, और उसे इसके लिए तैयार भी होना चाहिए, क्योंकि क्रांति साहित्य से ज्यादा महत्त्वपूर्ण होती है। शब्द को कर्म से अलग रखने वाले बुर्जुआ वर्ग से आये हुए कुछ लोग क्रांतिकारी कहलाने का शौक तो पालते हैं लेकिन क्रांति के लिए आवश्यक कुर्बानी से बचना चाहते हैं। ऐसे लोग केवल शब्दों के सहारे क्रांति के नेतृत्व की लालसा अपने मन में पालते हैं। शब्द को कर्म से अलग रखनेवाले ऐसे बुद्धिजीवी कई बार क्रांति विरोधी भूमिका अदा करते हैं।

शब्द अगर एक ओर जनता के कर्म से जुड़ता है तो दूसरी ओर लेखक के रचना कर्म से। मनुष्य की चेतना उसके सामाजिक अस्तित्व के अनुरूप बनती है। व्यक्ति की दृष्टि उसकी जीवन दशा से प्रभावित होती है। रचनाकार के शब्द, उसकी रचना के शब्द, उसके जीवन कर्म को प्रतिबिम्बित करते हैं। रचनाकार का रचना कर्म सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से उसके सम्बन्ध का द्योतक होता है। ईमानदार लेखक के जीवन कर्म और रचना कर्म में एकता होती है।

क्रांति का सपना साहित्य में ही देखा जाता है। जो लोग शब्द और कर्म को परस्पर विरोधी मानते हैं वे क्रांति में साहित्य की सहायक भूमिका को अस्वीकार करते हैं। लेकिन ऐसे लोग भाषा में क्रांति करके साहित्य की नयी भाषा गढ़ने की असफल कोशिश करते हैं। जनता से कटे हुए बौद्धिकों की गढ़ी हुई भाषा (रचना भी) कृत्रिम होने के कारण कमजोर और अल्पजीवी होती है। प्रायः महत्त्वपूर्ण रचनाकार जनता के कर्मशील जीवन से रचना की प्रेरणा और अन्तर्वस्तु ग्रहण करते हैं तथा लोकभाषा की सृजनशीलता से अपनी रचना की भाषा को समृद्ध करते हैं। शब्द को कर्म से अलग मानने वाले ही विचारहीन कविता लिखते हैं और कविता में 'विचारों की विदाई' के गीत गाते हैं। शब्द से कर्म को अलग करने की कोशिश वे लोग भी करते हैं जो साहित्य को केवल अभौतिक या आध्यात्मिक वस्तु समझते हैं। गोर्की ने लिखा है कि "रचना कर्म से लगा हुआ लेखक एक ही समय में कर्म को शब्दों में और शब्दों को कर्म में बदलता है।' गोर्की क्रांतिकारी कथाकार थे। वे क्रांति के कलाकार और कार्यकर्ता दोनों थे। गोर्की शब्द और कर्म के सम्बन्ध के सारे आयामों से खूब परिचित थे, इसलिए उन्होंने शब्द और कर्म की एकता की पुष्टि की है। वास्तव में शब्द को कर्म से जोड़ने का अर्थ है शब्द को अर्थ से, साहित्य को जीवन से, चिंतन को यथार्थ से, विचार क्षेत्र को कर्मक्षेत्र से और साहित्य को क्रांति से जोड़ना।

यह ठीक है कि साहित्य का आधारसूत्र तत्त्व और साधन शब्द है, अर्थपूर्ण शब्द। अर्थपूर्ण शब्द के सप्रयोजन सुव्यवस्थित प्रयोग से रचना की भाषा बनती है। भाषा साहित्य का साधन है, माध्यम है। भाषा सामाजिक

सम्पत्ति है। वह मनुष्य की जीवन प्रक्रिया में बोध और सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। सामाजिक विकास के साथ-साथ भाषा का भी विकास हुआ है। वह मानवीय कार्य-कलाप में समन्वयकारी साधन के रूप में कार्य करती है। मनुष्य की चेतना के निर्माण में भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा क्रियाशील मनुष्य के यथार्थ से सम्बन्ध की अभिव्यक्ति का साधन है। मनुष्य क्रियाशील जीवन में ही संवाद का आकांक्षी होता है। वह भाषा के माध्यम से अपने विचारों एवं अनुभूतियों की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण करता है। मनुष्य के कर्मशील जीवन के साथ ही भाषा का विकास हुआ है। यही नहीं, विचार भी कर्म से ही पैदा होते हैं और कर्म ही विचार की सच्चाई की कसौटी है। मनुष्य केवल विचारशील या अनुभूतिशील होने के कारण भाषा की आवश्यकता का अनुभव नहीं करता बल्कि वह कर्मशील होने के कारण ही विचार, अनुभूति और भाषा की आवश्यकता का अनुभव करता है। कई बार भाषा मानवीय कार्य-कलाप की संगठनात्मक शक्ति के रूप में काम करती है। शब्द कर्म का प्रेरक होता है और कर्म शब्द की अर्थ शक्ति का स्रोत। भाषा समाज और व्यक्ति के कर्म, चिंतन और अनुभूति का साधन ही नहीं है वह अनुभव और चिंतन का माध्यम भी है।

शब्द ब्रह्म की निरपेक्ष सत्ता में विश्वास करने वाले भाववादी विचारक समझते हैं कि भाषा का अस्तित्व समाज से स्वतन्त्र होता है, शब्द कर्म के बंधनों से मुक्त होता है। भाषा और समाज के सम्बन्ध के बारे में यह धारणा गलत है। मार्क्स और एंगेल्स ने यथार्थ और चेतना तथा भाषा और समाज के सम्बन्ध के बारे में भाववादी और यांत्रिक भौतिकवादी विचारकों की धारणाओं का खण्डन किया है। मार्क्सवाद के अनुसार चेतना, भाषा और विचार का जीवन के यथार्थ और समाज से द्वंद्वात्मक सम्बन्ध होता है। इस द्वंद्वात्मक सम्बन्ध की प्रक्रिया से ही मनुष्य की चेतना, भाषा और चिंतन का विकास होता है। मार्क्स एंगेल्स ने लिखा है कि भाषा उतनी ही पुरानी है जितनी मनुष्य की चेतना, भाषा व्यावहारिक चेतना है। चेतना की तरह भाषा का भी विकास मनुष्य के पारस्परिक सम्पर्क, साहचर्य और सहयोग की आवश्यकता तथा प्रक्रिया से होता है। भाषा मनुष्य के कर्मशील जीवन का एक संघटक तत्त्व है। रेमंड विलियम्स ने ठीक ही लिखा है कि भाषा और श्रम मानव व्यवहार के दो ऐसे परस्पर सम्बद्ध रूप हैं जो एक दूसरे को प्रभावित करते हुए इतिहास प्रक्रिया में विकसित हुए हैं। भाषा और यथार्थ के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध की व्याख्या करते हुए रेमंड विलियम्स ने यह भी लिखा है कि भाषा केवल भौतिक यथार्थ का प्रतिबिंबन या अभिव्यंजना नहीं है, भाषा की मदद से हम यथार्थ का बोध प्राप्त करते हैं। भाषा व्यावहारिक चेतना होने के कारण मनुष्य के उत्पादन-सम्बन्धी

और दूसरे सामाजिक काय कलापा स प्रभावित होती है और उनको प्रभावित भी करती है। भाषा के माध्यम स यथाथ के बोध की प्रक्रिया सामाजिक और अनवरत होती है, इसलिए वह क्रियाशील और परिवतनशील समाज म ही घटित होती है। इस प्रक्रिया म भाषा का विकास होता है। यही कारण है कि भाषा का विकास न तो समाज के इतिहास के बाहर होता और न वग सघष से परे।

साहित्य मे भाषा का विशेष रूप और प्रयोजन प्रकट होता है, लेकिन साहित्य की भाषा व्यापक सामाजिक जीवन मे व्याप्त भाषा स अलग और कटी हुई नही होती। साहित्य की भाषा को सामाजिक जीवन मे व्याप्त भाषा से अलग और कटी हुई समझना भाषा और साहित्य सम्ब धी रूपवादी चितन का लक्षण है। प्रसिद्ध रूसी भाषा वैज्ञानिक वालासिनोव ने लिखा है कि शब्द सामाजिक प्रतीक है, वह सामाजिक सम्बन्धो का माध्यम है और यथाथ के बोध सदम मे चेतना का भी माध्यम है। साहित्य रचना के दौरान रचनाकार अथ सजन का जो काम करता है वह एक सामाजिक काय है। अथ सजन का यह प्रयत्न अपने मूलाधार और प्रयोजन की दृष्टि से सामाजिक होता है। अथ की सत्ता और साथकता का सामाजिक व्यवहारो, सम्ब धो और विचारो से गहरा सम्बन्ध होता है। इस प्रकार शब्द और कम का सम्बन्ध सतही और स्वैच्छिक नही, बुनियादी, प्रयोजनपरक और अनिवाय होता है।

साहित्य का सम्ब ध अनुभूति और विचार से होता है और अनुभूति तथा विचार कम से पैदा होते हैं। साहित्यकार कमशील व्यक्ति ही है और भाषा के माध्यम से रचनाकर्मी भी। रचना कम कमशील जीवन से शक्ति प्राप्त करता है और कमशील व्यक्ति साहित्य से दिशाबोध। भाववादी चितक जैसे विचार को यथाथ स स्वत त्र मानते हैं वैसे ही भाषा को विचार स भी स्वतन्त्र समझते हैं। चिंतन का लक्ष्य अगर दुनिया को बदलना भी है तो चिंतन को क्रियाशील मनुष्य से, भाषा को यथाथ स और शब्द को कम स जोडना होगा। कोरा शब्द किसी काम का नही होता, किसी के काम का नही होता। शब्द म शक्ति कम से आती है, कमशील व्यक्ति क शब्द अथवान होते है। आचाय शुक्ल ने लिखा है कि "कम मे आनन्द अनुभव करने वालो का ही नाम कमण्य है।" इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि कमहीन कोरे शब्दो से खिलवाड करने वाला का ही नाम अकमण्य है। शब्द कम से ही जुडकर साथक होता है।

साहित्य म भाषा के माध्यम से मनुष्य की परिभाषा की जाती है। प्रत्येक समथ साहित्य और साहित्यकार अपने देशकाल के क्रियाशील मानव व्यक्तित्व और उसके सामाजिक अस्तित्व की परिभाषा करता है। जो साहित्य या साहित्य कार अपने समय के मनुष्य की जितनी सही परिभाषा (कमशील मनुष्य के

अन्तग्राह्य की विशेषताओ और विशिष्टताओ का उदघाटन) कर पाता है वह उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है आचार्य शुक्ल का विचार है कि प्राय सभी सभ्य जातियो का साहित्य उनके विचारो और व्यापारो स लगा हुआ चलता है। जैसे भाषा से अलग विचारो का कोई अस्तित्व नही होता वैसे ही सामाजिक जीवन से स्वतन्त्र भाषा की कोई सत्ता नही होती। साहित्य के अथ और मूल्य सामाजिक जीवन से स्वतन्त्र नहीं होते।

वैसे तो हर प्रकार का चिंतन किसी-न किसी रूप मे सामाजिक जीवन-व्यवस्था के किसी रूप और वग को प्रतिबिंबित करता है, अपने वग की सेवा करता है, लेकिन वर्गो मे विभाजित समाज व्यवस्था को बदलकर एक शोषण-मुक्त समाज व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रतिबद्ध चिंतन अनिवार्यत सवहारा के क्रातिकारी उद्देश्यो मे जुडा हुआ होता है। चिंतन, चाहे वह साहित्य के रूप मे हो या दशन के, एक वैयक्तिक सोच विचार या आत्मचिंतन मात्र नहीं है, न वह अमूत्त धारणाओ का वैयक्तिक प्रतिपादन ही है, वह एक व्यापक विचारधारात्मक सघष का अविभाज्य अग होता है। ऐसी स्थिति म शब्द को कम मे अलग करने की बात व करते हैं जो वग व्यवस्था के शासन को बनाये रखने के लिए प्रयत्न-शील होत हैं। ऐसे बुर्जुआ वग के बुद्धिजीवी अपन वर्गीय सम्बन्धो को छिपाने का प्रयास करते हुए अपने वग की आकाक्षाओ और विचारो की अभिव्यक्ति करते हैं। ग्राम्शी ने लिखा है कि वग समाज मे कुछ परम्परागत पेशेवर बुद्धिजीवी होते हैं जो अपन आस पास एक प्रकार के अन्तवर्गीय वातावरण का आडम्बर रचते हैं, लेकिन अतत उनकी असलियत उनके वर्गीय सम्बन्धो म ही बनती है। ऐसे बुद्धिजीवी अपने वर्गीय सम्बन्धो पर रहस्य का पर्दा डाले हुए अपने वग की सेवा करते हैं। शब्द को कम से, भाषा को समाज से और साहित्य को जनजीवन से अलग रखने की वकालत करने वाले बुद्धिजीवी या तो शासक वर्ग के अग हैं या अधिक से अधिक पेशेवर बुद्धिजीवी।

भाषा मानवीय सवाद का साधन है। सवादहीनता का सकट भाषा को जीवन की वास्तविकता स और शब्द को कम से अलग करन के परिणामस्वरूप होता है। शब्द को कम से और साहित्य को क्राति से अलग मानने वाला चिंतन क्राति विरोधी विश्व दृष्टि की उपज है।

2

जब भी साहित्य मे सामाजिक परिवतन का स्वर उभरता है साहित्य का जनवादी स्वरूप विकसित होने लगता है, साहित्य मे जनता की आवाज सुनायी पडने लगती है, शब्द और कम की दूरी घटने लगती है क्रातिकारी साहित्य का विकास होता है तो शब्द और कर्म की एकता से चिंतित साहित्यकार तरह तरह

के नए नारों और सिद्धांतों के सहारे उस एकता को खंडित करने की कोशिश करने लगते हैं। ऐसी चिंता केवल साहित्य की भाषा के स्वरूप के बारे में चिंता नहीं है, यह उनकी गहरी विचारधारात्मक चिंता की उपज है। क्रांतिकारी साहित्य के विकास में उनको जनता की मुक्ति की आकांक्षा और शासक-वर्ग के विचारधारात्मक प्रभुत्व के टूटने का खतरा दिखायी देता है, इसलिए वे शब्द और कर्म के अलगाव की वकालत करते हुए नए रचनाकारों को दिग्भ्रमित करने का प्रयत्न करते हैं। शब्द और कर्म के अलगाव की बात करने वाले साहित्य को जनता के जीवन, सामाजिक यथार्थ, मुक्ति संघर्ष और विचारधाराओं से अलग करके अतीत की अंधेरी स्मृतियों, रहस्य और कल्पना के बीहड़ जंगलों, अंतर्मन की गुफाओं, अस्तित्व के काल्पनिक संकटों और भविष्य के भयानक सपनों से जोड़ते हैं। ऐसे लोग साहित्य में जन-जीवन की वास्तविकता, शोषक समाज व्यवस्था के असली रूप और जनता के मुक्ति संघर्षों की अभिव्यक्ति को बर्दाश्त नहीं कर पाते, इसलिए साहित्य की शुद्धता, आंतरिकता और स्वायत्तता की दुहाई देते हुए उसे दूसरे मानवीय व्यवहारों और विचारों से मुक्त रखने के अपने 'पूर्वग्रह' को साहित्य चिंता के रूप में पेश करते हैं।

शब्द और कर्म के सम्बन्ध के बारे में दृष्टि भेद में साहित्य की जनवादी दृष्टि और अभिजात्य दृष्टि का टकराव प्रकट होता है। साहित्य की जनवादी दृष्टि शब्द और कर्म में एकता मानती है और साहित्य की आभिजात्यवादी दृष्टि दोनों के बीच दूरी की वकालत करती है। साहित्य की अभिजात्यवादी दृष्टि अपने भाववादी आधार और रूपवादी आग्रह के कारण साहित्य को जीवन के यथार्थ और सर्वहारा की विचारधारा से मुक्त देखना चाहती है। आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास में जनवादी और अभिजात्यवादी साहित्य दृष्टियों का टकराव कई बार हुआ है। आजकल साहित्य की आभिजात्यवादी दृष्टि का मंच 'पूर्वग्रह' बना हुआ है। जो काम कभी 'परिमल समूह' ने किया था वही काम आजकल 'पूर्वग्रह मंडली' इस बीच के इतिहास से बहुत कुछ सीखकर, अधिक चालाकी से कर रही है। 'पूर्वग्रह मंडली' के चिंतक किसी 'दिशा विशेष (जनवाद की दिशा) में ले जाने वाली' रचनाशीलता से चिढ़ते हैं वे समकालीन रचनाशीलता को जन जीवन के यथार्थ से काटकर 'अंधेरी स्मृतियों में भटकना चाहते हैं और आलोचना में स्मृति का पुनर्वास कराने या स्वयं आलोचना को स्मृति बनाने का प्रयास कर रहे हैं। साहित्य को समकालीन जीवन के यथार्थ से और शब्द को कर्म से अलग करके स्मृति से जोड़ने का यह प्रयास अकारण नहीं है-इसके पीछे साहित्य की एक विशेष दृष्टि सक्रिय है।

'पूर्वग्रह मंडली' के एक विचारक निर्मल वर्मा हैं, जो शब्द और कर्म की एकता के विरोधी तथा शब्द और स्मृति की एकता के समर्थक हैं। यही नहीं,

निर्मल वर्मा साहित्य को यथार्थ से और मनुष्य को इतिहास से निकाल कर स्मृति और मिथक की दुनिया में ले जाना चाहते हैं। वे रचनाकारों को 'औसत यथार्थ के अँधेरे से मुक्ति पाकर' 'स्मृति और भाषा की अँधेरी जड़ों में रास्ता टटोलने' की सलाह देते हैं। निर्मल वर्मा के साहित्य का कोई भी पाठक यह देख सकता है कि वे दूसरे रचनाकारों को वही करने की सलाह दे रहे हैं जो वे अपनी रचनाओं में करते रहे हैं। निर्मल वर्मा का सारा साहित्य स्मृतियों का साहित्य है, जातीय स्मृतियों का नहीं, नितांत वैयक्तिक अँधेरी स्मृतियों का। लगता है उनके अनुसार रचनाकारों की नियति अँधेरे में भटकने की ही है, वह अँधेरा चाहे यथार्थ का हो या स्मृतियों का। वास्तव में अनैतिहासिक और मिथकीय दृष्टि से यथार्थ को देखने पर अगर चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखायी देता है तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

निर्मल वर्मा एक लेखक होने के नाते यह जानते हैं कि "लेखक शब्दों से मुक्ति नहीं पा सकता" लेकिन उनका खयाल है कि लेखक के लिए यथार्थ से मुक्ति आवश्यक है। ऐसा खयाल वही लेखक पाल सकता है जो मानता हो कि '*शब्द पीछे मुड़ कर अपनी तरफ देखता है तो खुद विचार बन जाता है।*' इस प्रकार निर्मल वर्मा के अनुसार शब्द, भाषा, साहित्य और विचार का जीवन के यथार्थ व्यवहार और इतिहास की प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह लगता है कि निर्मल वर्मा साहित्यकारों के लिए जिन स्मृतियों की जड़ों में रास्ता टटोलने की सलाह देते हैं, वे 'निर्वैयक्तिक, गैर ऐतिहासिक मिथक सम्पन्न' यथार्थशून्य अँधेरी स्मृतियाँ हैं। निर्मल वर्मा के अनुसार 'शब्द और स्मृति' के समन्वय का यही असली रूप है जिसमें कर्मशून्य शब्द अयथार्थ अँधेरी स्मृतियों के पीछे भटकते रहते हैं।

शब्द को केवल स्मृति तक सीमित करने, रचना और आलोचना में केवल स्मृतियों के पुनर्वास का आग्रह करने का अर्थ है समकालीन साहित्य को अतीत जीवी बनाना। स्मृतियों का एक रूप जातीय जीवन की स्मृतियाँ भी होती हैं और भाषा तथा साहित्य के इतिहास में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भाषा और सहित्य के जातीय रूप में जातीय स्मृतियाँ सुरक्षित रहती हैं। जैसे वर्तमान समाज और जनता का जीवन जातीय स्मृतियों से जुड़ा हुआ है वैसे ही भाषा और साहित्य के वर्तमान जातीय स्वरूप में भी जातीय स्मृतियाँ प्रकट होती हैं। लेकिन जातीय स्मृतियाँ निर्वैयक्तिक गैर ऐतिहासिक, मिथक सम्पन्न अँधेरी स्मृतियाँ नहीं होतीं, वे विशेष ऐतिहासिक अवस्था में जातीय जीवन के कर्म और चिंतन की स्मृतियाँ होती हैं। हिन्दी जाति का साहित्य अनैतिहासिक, कर्मशून्य, मिथकीय, अँधेरी स्मृतियों का भंडार नहीं है, उसमें एक संघर्षशील और कर्मशील जाति के कर्म और चिंतन की स्मृतियाँ हैं। समकालीन संदर्भ में जातीय

जीवन और समाज के विकास में सहायक स्मतियो को ही नयी रचनाशीलता म लाया जा सकता है, पुरानी, गैर एतिहासिक, मिथकीय अधेरी स्मतियो को नही।

अगर हम केवल काव्य भाषा के सदम मे भी शब्द और स्मृति या समकालीन कविता की भाषा और जातीय स्मृतियो के सम्ब ध पर विचार करें तो यह मालूम होगा कि केवल पुराने बिंबो, प्रतीको, मिथको, पात्रो, घटनाआ आदि के रूप म जातीय स्मृति की भरमार से किसी रचना की भाषा जीवत सवेदनशील सजनात्मक और समकालीन नही होती, उसमे समकालीन यथाथ की व्यजना की अधिक क्षमता भी नही आ जाती। रचना की भाषा की समकालीनता, समकालीन यथाथ से जुडी हुई भाषा से उसके सम्ब ध के कारण विकसित होती हैं। केवल स्मति निभर भाषा समकालीन यथाथ की व्यजना मे सक्षम नही होती। समकालीन जीवन और समाज के व्यवहार की भाषा मे जातीय स्मतिया मौजूद होती है, लेकिन वे समकालीन जीवन के कम और चिन्तन से प्रभावित और परिवर्तित रूप मे मौजूद होती हैं। समकालीन रचना की भाषा मे जातीय स्मतियो की सजनात्मक उपस्थिति के लिए केवल अतीत की ओर देखने के बदले वतमान जीवन और उसकी भाषा की ओर देखना ज्यादा जरूरी है। समकालीन यथाथ की अभिव्यक्ति के लिए समकालीन यथाथ की पूरी समझ और उसकी पुनरचना तथा व्यजना म सक्षम भाषा का विकास आवश्यक है।

रचना मे भाषा का प्रयोजन यथाथ को सवेद्य और सर्जित अथ का सप्रेष्य बनाना है। हर काल की सवेदनशीलता मुख्यत अपने समय के समाज और जीवन के यथाथ से निर्मित होती है। उस सवेदनशीलता के अनुरूप भाषा का भी विकास होता है। यथाथ सवेदना और भाषा की समकालीन समानधर्मिता की समझ से रहित रचना अजायबघर की वस्तु बन जाती है। दुलारे सतसई उद्धव शतक और कृष्णायन जैसी तुकबदिया परम्परा प्रेमी पडितो द्वारा पुरस्कृत होने के बावजूद जनता द्वारा तिरस्कृत होती है। यही नही, असाध्य वीणा, आत्मजयी और कनुप्रिया जैसी कविताए जातीय स्मृति की बैसाखी के सहारे शाश्वत होने की कोशिश के बावजूद यथाथ सवेदना और भाषा की समकालीनता के अभाव म कुछ ही दिना म अप्रासागिक होकर केवल स्मृतिकारा क काम की रह गयी हैं।

'पूवग्रह मडली' के मुख्य प्रवक्ता, काव्य शासक अशोक वाजपेयी हैं जो नये कवियो को नया काव्यानुशासन सिखा रहे हैं। उनके नये काव्यानुशासन की एक विशेषता यह है कि उनको 'किसी दिशा विशेष मे ले जाने वाली' कविता से चिढ होती हैं, क्योकि ऐसी कविता उनको अपने स्वतत्र निणय और निजी 'कम की सभावना' के लिए खतरनाक लगती है। इस नये काव्यानुशासन के कुछ मुख्य सूत्र य हैं—

1 कविता कवि की सम्पूर्ण नागरिकता है।

2 अब केन्द्र म कवि नहीं, कविता है।

3 कविता की स्वतन्त्र सत्ता है। यह किसी अन्य मानव व्यवहार या विचार का पिछलग्गू नहीं है।

4 आज कविता विचारधारा के प्रभावो स मुक्त है।

5 कविता सतत एक बनायी हुई वस्तु है।

अशोक वाजपेयी के नये काव्यानुशासन के इस पाच-सूत्री कार्यक्रम को देखकर अगर किसी को नय पुरान और देशी विदेशी रूपवादियो की कविता सम्बन्धी धारणाओ का स्मरण हो आय तो उसे यह मान लेना चाहिए कि शायद इसी प्रकार आलोचना मे 'स्मृति का पुनर्वास' होता है।

बहुत पहले जार्ज आर्वेल ने लेखक के नागरिक और लेखक व्यक्तित्व मे अन्तर स्थापित किया था। उसको अज्ञेय न बहुत दिनो तक दुहराया। लेखक के नागरिक और लेखक व्यक्तित्व का भेद भ्रातिपूर्ण है, लेकिन इसके बावजूद इसम लेखक के नागरिक दायित्व की स्वीकृति है। अशोक वाजपेयी की अद्वैतवादी आलोचना दृष्टि के अनुसार कवि की सम्पूर्ण नागरिकता कविता लिखने तक सीमित है। कवियो को सामाजिक दायित्व के बोध (बोझ भी) से मुक्त करके अशोक वाजपेयी अज्ञेय स चार कदम आगे निकल रहे हैं। यह एक काव्य-शासक का कवियो की नागरिकता के बारे म निर्णय है। साहित्यकारो की नागरिकता के बारे म अशोक वाजपेयी की यह चिंता नयी नही है। 'पूर्वग्रह 1 म उन्होंने आलोचना को 'एकात नागरिकता' कहा था। अशोक वाजपेयी ने टी० एस० इलियट और नयी समीक्षा की कविता सम्बन्धी रूपवादी धारणाओ और शब्दावली को दुहराते हुए नए काव्यानुशासन के नाम पर नये ढग से वही काम किया है जो पिछले 25 वर्षों से अनेक करते आ रहे हैं। पता नही पूर्वग्रह के जिस कविता विशेषाक के सम्पादकीय म नये काव्यानुशासन का यह पाच-सूत्री कार्यक्रम है, उसमे छपे कवि इसको स्वीकार करते हैं या नही। जो भी हो, समकालीन कविता को जनजीवन के यथार्थ, जनता के मुक्ति सघर्ष को दिशा देने वाली विचारधारा से अलग करने का प्रयास पूर्वग्रह के मच स हो रहा है।

सार्त्र ने लिखा है कि एक युग का साहित्य अपने युग को समग्रता म आत्मसात करने के अतिरिक्त और क्या है ? इस प्रक्रिया मे ही साहित्य अपने युग के यथार्थ को उद्घाटित, निरूपित और प्रस्तुत करता है। जनता ऐसे साहित्य मे अपनी वास्तविक स्थिति पहचान कर अपन मुक्ति सघर्ष से आगे बढती है। कर्म से शब्द के जुडने का यह भी एक तरीका है। लेखक अगर व्यापक मानवीय सरोकार से सम्बद्ध है अगर वह केवल लीला भाव या क्रीडाभाव से शब्दो से खिलवाड करने को साहित्य रचना नही समझता, अगर वह बेहतर

मानव भविष्य के संकल्प से जुड़ा है, तो वह निश्चय ही अपने कर्म को—रचना कर्म को—और उसके माध्यम शब्द को जनता के क्रांतिकारी कर्म से जोड़ना चाहेगा। इसी प्रक्रिया में वह साहित्य को सामाजिक बदलाव के क्रांतिकारी कर्म का सहायक बना सकता है, शब्द को कर्म में बदल सकता है।

शब्द और कर्म की एकता का प्रमाण जनता के जीवन में दिखाई देता है। भक्तिकाल के मानवतावादी कवियों की कविता का भारतीय जनता के कर्मशील जीवन में क्या स्थान है यह जनता के जीवन को जानने की आकांक्षा और तत्परता रखने वाला कोई भी व्यक्ति देख सकता है। हां, जो जनता को विवेकहीन भीड़ समझते हैं, वे जनता के कर्मशील जीवन में साहित्य की सार्थकता को नहीं देख पाते और नहीं देख सकते। इसका यह अर्थ नहीं है कि हर प्रकार का साहित्य जनता के कर्मशील जीवन का अंग बन सकता है। जो साहित्य जनता के कर्मशील जीवन में उपयोगी होता है, जनता उसी साहित्य को अपनाती है। यही कारण है कि भक्तिकाल के कवि जनता के अपने कवि हैं, लेकिन रीतिकाल की कविता केवल रसिकों के विनोद और मनोरंजन के काम आती है, उसका जनता के जीवन में कोई स्थान नहीं है।

शब्द और कर्म का विशेष सम्बन्ध प्रायः राष्ट्रीय संकट, राष्ट्रीय आन्दोलन, जातीय जागरण और राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों के काल में प्रकट होता है। भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान शब्द और कर्म का सहयोग देखा जा सकता है। क्रांतिकारी भावनाओं की अभिव्यक्ति करने वाली कविताओं को गाते हुए शहीद होने वाले क्रांतिकारी शब्द और कर्म की एकता सिद्ध करते हैं। दुनिया भर के जन-आंदोलन और क्रांतिकारी संघर्षों के दौरान जनता के भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति करने वाले साहित्य और क्रांतिकारी कर्म की एकता एक ऐसी ऐतिहासिक सच्चाई है जिसे कोई 'पूर्वग्रही' ही अस्वीकार कर सकता है। तीसरी दुनिया के अधिकांश देशों में सक्रिय राष्ट्रीय जनतांत्रिक मुक्ति आंदोलनों में जनता के पक्षधर साहित्यकारों की सक्रिय साझेदारी में शब्द और कर्म की एकता दिखाई देती है।

क्रांतिकारी रचनाकारों की रचनाओं से शब्द और कर्म की एकता प्रकट होती है और क्रांतिकारियों की रचनाशीलता से भी, लेकिन शब्द और कर्म या साहित्य और क्रांति की एकता का अकाट्य प्रमाण महान क्रांतिकारी लेनिन का यह अनुभवसिद्ध कथन है कि 'शब्द कर्म भी हैं।'

□

डॉ० मनेजर पाण्डेय

१९४३ म सारन (अब गोपालगज) जिले क छोटे स गाँव लोहटी म एक मध्यम किसान परिवार मे ज म, आरभिक शिक्षा गाँव मे ही। उच्च शिक्षा के लिए काशी हि दू विश्वविद्यालय मे १९५९ म प्रवश। ६५ म एम ए । ६९ मे 'सूर साहत्य परपरा और प्रतिभा' विषय पर पी एच डी । इसी वष बरेली कालेज, बरेली मे हि दी अध्यापक के रूप म नियुक्ति हुई। ७१ से माच ७७ तक जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर मे अध्यापकी और लेखन। माच ७७ म दिल्ली आ गए। फिलहाल जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली, के भारतीय भाषा केन्द्र म हि दी अध्यापन के साथ ही शोध-निर्देशन और लेखन।

पता—३ सी, डी डी ए फ्लैटस, बेरसराय, नयी दिल्ली ११००१६